स्वामी योगानन्द

स्वामी योगानन्द को छोटी आयु में ही ठाकुर के पुनीत दर्शन पाने का सौभाग्य हुआ था। 'लीलाप्रसंग' के अनुसार – "आने के पहले दिन ही उन्हें देखकर और उनका परिचय पाकर ठाकुर अत्यन्त आनन्दित हुए थे, और यह भी समझ गये थे कि उनके निकट धर्मलाभ करने के लिए आनेवाले जिन लोगों को जगदम्बा ने उन्हें बहुत पहले से दिखा दिया है, योगीन उनमें से एक हैं। और इतना ही नहीं, अपितु जिन छह विशेष लोगों को उन्होंने जगन्माता की कृपा से ईश्वरकोटि के रूप में जाना था, ये उनमें भी एक हैं।" स्वामीजी कहा करते थे – "हम लोगों में कोई यदि पूर्ण रूप से कामजित् है, तो वह है योगीन।" स्वामी निरंजनानन्द ने एक बार उनसे कहा था – "योगीन, तुम हम लोगों के चूड़ामणि हो।" स्पष्ट है कि ऐसी उच्च प्रशंसा के अधिकारी एक असाधारण महापुरुष ही होंगे। वस्तुतः सरल, महान् त्यागी, उत्कट तपस्वी, मातृभक्त और शुकदेव जैसे परम पवित्र योगानन्द केवल रामकृष्ण-संघ के ही क्यों, किसी भी काल के, किसी भी समाज के चूड़ामणि हैं।

स्वामी योगानन्द का पूर्वनाम योगीन्द्रनाथ रायचौधरी था। आपका जन्म दक्षिणेश्वर के विख्यात् सावर्ण चौधरी वंश में मार्च १८६१ ई. (फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी) शनिवार को हुआ था। पिता नवीनचन्द्र चौधरी निष्ठावान् धार्मिक ब्राह्मण थे और पर्याप्त समय पूजा-ध्यानादि में बिताया करते थे। समृद्ध जमींदार वंश में जन्म लेने पर भी सांसारिक कार्यों में रुचि न लेने के कारण वे शीघ्र ही निर्धन हो गए। योगीन की तब किशोरावस्था थी। पिता यह आशा करते थे कि योगीन बड़ा होकर गृहस्थी की जिम्मेदारी सँभालेगा और निर्धनता दूर करेगा; परन्तु योगीन के चरित्र में वैसा कोई भी लक्षण देखने में नहीं आया। बल्कि उम्र बढ़ने के साथ ही धीरे धीरे उनकी जन्मजात भगवत्प्राप्ति की आकांक्षा उनके हृदय पर पूर्ण अधिकार कर बैठी। वे स्वयं ही कहते थे कि बाल्यकाल से ही उनका मन एक अचिन्त्य चिन्तन में विभोर रहा करता था। पाँच वर्ष के बालक की चपल क्रीड़ा के बीच भी अचानक अनन्त की पुकार आकर उसे अनमना कर देती और वह उदास मन से आकाश की ओर निहारते हुए सोचने लगता – 'मैं यह कहाँ आ गया हूँ? मैं तो यहाँ का आदमी नहीं हूँ!' उसे लगता कि वह उसी सुदूर नक्षत्रमण्डल में ताराओं की माला पहने बैठा हुआ है; और उसके खेल के साथी भी वहीं पर हैं, यहाँ नहीं। बीच बीच में

उसका मन उसी देश को लौट जाने के लिए व्याकुल हो उठता।

यथासमय बालक योगीन का उपनयन हुआ। अब पूजा-ध्यानादि का अधिक अवसर पाकर उसके हृदय को थोड़ा सन्तोष हुआ और वह उसी में बहुतसा समय बिताने लगा। उन दिनों वह रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों का पाठ भी किया करता था। इसके अतिरिक्त उसका मकान सर्वदा भागवत-पाठ तथा कीर्तनादि से मुखरित रहने के कारण उसके तथा परिवार के अन्य सभी के मन में सदा धर्मभाव जागृत रहता था।

यथासमय पिता ने उन्हें अगरपाड़ा के मिशनरी विद्यालय में भर्ती कराया। उनका निवासस्थान दक्षिणेश्वर कालीमन्दिर के उद्यान के निकट होने के कारण, वे अध्ययन में रत रहने पर भी प्रायः वहाँ घूमने जाया करते थे। विशेषकर उनके धर्मप्राण पिता पुष्पचयन तथा गंगास्नान आदि के लिए प्रतिदिन रानी रासमणि के देवालय में जाया करते थे। इस प्रकार दक्षिणेश्वर मन्दिर के साथ उनका बचपन से ही सम्बन्ध था। उन्होंने 'परमहंसदेव' का नाम सुन रखा था तथा उनके दर्शन के इच्छुक भी थे; परन्तु स्वभावसुलभ लज्जा उनका मार्ग रोके हुए थी। विशेषकर चर्चा करनेवालों के मुख से सुनकर तब तक वे परमहंसदेव के बारे में वैसी उच्च धारणा नहीं कर सके थे।

इसी बीच केशवचन्द्र सेन ने श्रीरामकृष्ण को कलकत्ते के शिक्षित समाज के साथ परिचित करा दिया। केशवचन्द्र के प्रबन्ध आदि पढ़कर योगीन श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए उत्सुक हुए, परन्तु परिचय कौन कराए? इन्हीं दिनों एक बार कालीमन्दिर के उद्यान में भ्रमण करते हुए, उन्हें एक फूल लेने की इच्छा हुई और सामने ही एक अत्यन्त साधारण वेशभूषा के व्यक्ति को देख यह सोचकर कि वह अवश्य ही इस बगीचे का माली होगा, उन्होंने उसे फूल तोड़ देने को कहा। वह व्यक्ति प्रसन्नतापूर्वक उन्हें फूल देकर चला गया। इसके पश्चात् एक दिन योगीन ने देखा कि एक कमरे में बैठकर बहुतसे सज्जन एकाग्रचित्त से उसी पूर्वदृष्ट 'माली' की वाणी सुन रहे हैं, और वक्ता लगातार तत्त्वज्ञान की बातें कहे जा रहे हैं। यह देखकर वे एक ही साथ विस्मय तथा लज्जा से अभिभूत हो उठे। उन्हें समझते देर न लगी कि दक्षिणेश्वर के लोग जिन्हें 'पागल बाह्मन' कहते हैं और केशवचन्द्र जिनका 'परमहंस रामकृष्ण' कहकर प्रचार करते हैं, वे ये ही हैं। स्वाभाविक रूप से ही उनके मन में प्रश्न उठा – 'यदि ये पागल हैं, तो इतने लोग क्यों आते हैं?' उत्सुकता जागी और यह जानने हेतु कि क्या प्रसंग चल रहा है, वे और भी आगे बढ़कर द्वार के पास खड़े हो गए।

योगीन विस्मयपूर्वक काष्ठवत् मौन बाहर खड़े थे। उसी समय ठाकुर ने एक व्यक्ति को आदेश दिया, "जो लोग बाहर खड़े हैं, उन्हें भीतर बुला लाओ।" बाहर योगीन के अतिरिक्त और कोई नहीं था। बुलाये जाने पर वे भीतर आकर बैठ गए।

सत्संग समाप्त होने पर दूर से आए भक्त चले गए। तब श्रीरामकृष्ण योगीन के पास आए और स्नेहपूर्वक उनका परिचय पूछा। परिचय पाकर वे आनन्दपूर्वक बोले, "तब तो तुम हमारे पहचान के ही घर के हो जी! उन दिनों मैं तुम्हारे घर कितना जाता था – भागवत, पुराण आदि सुना करता था। तुम्हारे घर के बड़ों में से कोई कोई मेरा बहुत आदर-आतिथ्य करते थे।" फिर अवशिष्ट लोगों को योगीन का परिचय देते हुए कहा, "ये लोग दक्षिणेश्वर के सावर्ण चौधरी हैं। उन दिनों इनके प्रताप से बाघ और गाय एक ही घाट पर पानी पीते थे। ये लोग लोगों की जात ले-दे सकने की क्षमता रखते थे। सभी बड़े भक्तिमान् भी थे – घर में कितना भागवत-पुराण आदि हुआ करता था। जान-पहचान हुई, अच्छा हुआ – यहाँ आया-जाया करो। सद्वंश में जन्म है – तुम्हारे सारे लक्षण अच्छे हैं। अच्छा आधार है – भगवद्भक्ति खूब होगी।"

तब से योगीन ठाकुर के पास बारम्बार आवागमन करने लगे – किन्तु बिना दूसरों को बताये अत्यन्त गोपनीयता के साथ; क्योंकि दक्षिणेश्वर के लोगों की दृष्टि में ठाकुर 'पागल' थे और उनके मतानुसार जाति-विचार नहीं मानते थे। अतः योगीन को भय था कि उच्च वंश के होकर भी वे इन 'पागल' के पास आना-जाना करते हैं, इससे घर के लोग कहीं कोई विघ्न या बखेड़ा पैदा न करें। परन्तु यह बात धीरे धीरे सबको ज्ञात हो गयी और समवयस्कों ने हँसी उड़ाना भी शुरू कर दिया। फिर भी योगीन पीछे नहीं हटे। सौभाग्यवश माता-पिता ने सब कुछ जानकर भी रुकावट न डाली, क्योंकि वे जानते थे कि बाधा देना व्यर्थ है।

बात प्रगट हो जाने पर भी स्वभावतः निर्जनताप्रिय योगीन कब आते और कब जाते थे, किसी को पता तक नहीं चलता था – यहाँ तक कि ठाकुर के भक्तों के लिए भी यह अज्ञात ही रहता था। ठाकुर के दिव्य संग के फलस्वरूप उनके मन में वैराग्य का संचार हुआ और प्रवेशिका परीक्षा के बाद उन्होंने पढ़ना-लिखना बन्द कर देना चाहा। कोरे पढ़ने-लिखने में भला मन भी कैसे लगे? ठाकुर ने उन्हें जिस भाव में रँगा था उसके साथ लौकिक शिक्षा का सामंजस्य करना कठिन था। उन्होंने ठाकुर से सुन रखा था कि कामकांचन का त्याग किये बिना ईश्वरप्राप्ति की आशा तक करना व्यर्थ है। इधर सांसारिक अभाव उन्हें बड़ा ही कष्ट दे रहा था। बहुत सोच-विचार के बाद अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विवाह करके संसार में लिप्त न होने पर भी, परिवार के भरण-पोषण के लिए नौकरी करना आवश्यक है; पर हाँ, शेष समय वे साधन-भजन में ही बिताएँगे। मन ही मन ऐसा निश्चय करने के बाद उन्होंने पिता को यह बताया और उनकी अनुमति लेकर (अनुमानतः १८८४ ई. में) नौकरी की तलाश में कानपुर अपने मौसा के घर आए। परन्तु वहाँ कुछ महीने तक प्रयास करने के उपरान्त भी कोई फल न हुआ। इससे कहा जाए योगीन को सुविधा ही हुई – उन्होंने यह अवसर व्यर्थ न खोकर जप-ध्यान का

परिमाण बढ़ा दिया। योगीन जितना ही आन्तर राज्य में डूबने लगे, उतना ही उनके बाह्य जीवन में गम्भीरता तथा उदासीनता का भाव व्यक्त होने लगा। मौसाजी को सब समझते देर न लगी। पर ऐसे उच्च जीवन के बारे में ज्ञान न होने के कारण इसे उन्होंने अस्वाभाविकता का पूर्वलक्षण समझा और प्रतिकार के लिए योगीन के पिता को लिखा – "लड़का बड़ा हो गया है, अब उसका विवाह न करके ऐसे ही रखने पर वह बिल्कुल ही बहक जाएगा।"

पत्र पाकर पिता ने विवाह की पूरी व्यवस्था कर ली। परन्तु पुत्र के स्वभाव से वे भलीभाँति परिचित थे, अतः उसे कुछ भी न जताते हुए उन्होंने कानपुर समाचार भेजा – "घर में बीमारी हुई है, योगीन को घर भेज दो।" समाचार पाकर योगीन ने सोचा कि सम्भवतः उनकी माता बीमार पड़ गयी हैं। ऐसी आशंका उठते ही योगीन अविलम्ब घर आ पहुँचे। परन्तु घर पहुँचकर उन्होंने जो कुछ सुना, उससे तो वे हक्का-बक्का से रह गए। यह क्या? कहाँ और किसे बीमारी! किसी के भी चेहरे पर चिन्ता या उद्वेग का चिह्न तक नहीं था – हाँ, सर्वत्र किसी अज्ञात उत्सव की व्यस्तता जरूर थी। किसी के कुछ न बताने पर भी उन्हें यह समझते देर न लगी कि यह सब आयोजन उन्हीं के लिए है – उनका विवाह होने जा रहा है और अब सिर्फ दो ही दिन बाकी रह गए हैं। योगीन के लिए यह कठिन परीक्षा की घड़ी थी। उन्होंने तो अविवाहित रहने का दृढ़ संकल्प किया था, परन्तु विधि की यह कैसी विडम्बना! जो भी हो, उन्होंने बहुत सोच-विचार करके पिता से यह स्पष्ट कह दिया कि वे विवाह न करेंगे। पर पिता भला क्यों सुनने लगे? पुत्र को कौशल्य से राजी कर लेने के भरोसे पर ही तो उन्होंने यह सारी व्यवस्था की थी। अब क्या उसी पुत्र की विचारहीनता तथा हठ के कारण उनका सारा प्रयास विफल होगा? कन्यापक्ष को वचन देने के बाद उसकी रक्षा कर पाने में असमर्थ होकर क्या वे समाज में अपनी नाक कटाएँगे? क्रोध और अभिमान से पिता का धैर्य छूटने लगा। वे कहने लगे कि मैं इस हठी योगीन का मुँह न देखूँगा। घर के लोगों को संकट की भनक लगी। तब योगीन की माता पुत्र के दोनों हाथ पकड़कर रोती हुई बोली, "बेटा, मेरे माथे की सौगन्ध, नहीं मत करो, अपने पिता की बात रखो। वे कन्या के पिता को वचन दे चुके हैं। तुम्हारे अस्वीकार करने पर उनका अत्यन्त अपमान होगा। अपनी इच्छा न होने पर भी तुम मेरे लिए विवाह कर लो।" यह कहती हुई माँ आसुँओं की धारा बहाने लगीं। कोमलहृदय मातृभक्त योगीन के लिए इस अनुरोध की उपेक्षा करना बड़ा ही कठिन हो गया। जननी के अश्रुधारा ने उनकी प्रतिज्ञा की नींव को शिथिल कर दिया, और माँ का यह करुण वाक्य कि "तुम मेरे लिए विवाह कर लो" बारम्बार उनके कानों में प्रतिध्वनित होने के फलस्वरूप वह दीवाल अचानक ढह पड़ी। मातृभक्ति की वेदी पर अपने संकल्प की बलि चढ़ाकर योगीन विवाह के

लिए सहमत हुए। यथासमय नवपरिणीता वधू का गृहप्रवेश हुआ; परन्तु योगीन का वैराग्य अटल था – पत्नीसहित वासगृह में प्रवेश करते समय उनके विषाद-आच्छन्न हृदय को मथती हुई "हरिबोल, हरिबोल" की अस्फुट ध्वनि उठने लगी।

पता नहीं विवाह के द्वारा योगीन अपनी माता को प्रसन्न कर सके या नहीं; परन्तु इस बात का उन्हें स्पष्ट बोध हो रहा था कि उनकी शान्ति दिन पर दिन चली जा रही है। धीरे धीरे उन्हें यह अधिकाधिक स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगा कि उनकी भविष्य की आशाएँ, उदात्त विचार और उच्च आकांक्षाएँ एक-एक करके उनसे विदा ले रही हैं। उन्होंने प्रतिज्ञा भंग की है – विवाह किया है, अब उस मन्दिर-उद्यान के प्राण-मन-हरणकारी ठाकुर के पास कौनसा मुँह लेकर जाएँगे। उन्होंने सोचा – 'जो प्रतिज्ञा का पालन नहीं कर सकता उस जैसा हीन और कौन होगा? क्या वे अब भी मुझसे स्नेह करेंगे? वे काम-कांचनत्यागी हैं और मुझे तो अब कामिनी-कांचन के साथ ही गुजर-बसर करना होगा। अब मेरा उनके पास जाने का क्या काम?' इस प्रकार काफी सोच-विचार के बाद उन्होंने ठहराया कि अब कालीमन्दिर नहीं जाएँगे।

धीरे धीरे योगीन के विवाह का संवाद ठाकुर तक आ पहुँचा। वे उनसे मिलने के लिए बड़े व्यग्र हो उठे और विभिन्न लोगों द्वारा बारम्बार उनके पास सन्देश भेजने लगे। फिर भी योगीन नहीं आए और न ही उन्होंने ठाकुर को कोई उत्तर भेजने की आवश्यकता समझी। दूसरा कोई चारा न देखकर, अन्त में एक दिन ठाकुर ने किसी परिचित व्यक्ति को बुलाकर कहा, "अमुक का लड़का कैसा आदमी है? कानपुर जाने के पहले यहाँ का कुछ पैसा उसके पास था, उसका हिसाब भी नहीं देता, बुलवाने पर आता भी नहीं। जाकर उससे कह तो देना।"

यह बात सुनकर योगीन के दिल को बड़ी चोट पहुँची। उन्हें याद आया कि मन्दिर के खजांची ने उन्हें कोई चीज खरीदने के लिए कुछ पैसे दिये थे और उसमें से बचे हुए चार आने पैसे वापस करना रह गया है, क्योंकि उपरोक्त विविध झंझटों में फँसे रहने के कारण वे कालीमन्दिर न जा सके थे। बाद में उन्होंने जब भविष्य में फिर कभी ठाकुर के पास न जाने का निश्चय किया तो सोचा कि पैसे किसी दूसरे के हाथ भिजवा देंगे। ठीक उसी समय ठाकुर की यह शिकायत उनके कानों में आ पहुँची। इस पर अभिमान तथा संकोच से अभिभूत हो उन्होंने सोचा, "मेरी सारी आशाएँ भले ही चली गयी हों, पर मैं अभी तक इतना गिरा नहीं हूँ कि चोरी करूँ। क्या वे मुझे इतना बुरा समझ बैठे हैं? जो भी हो, आज ही जाकर पैसे लौटा आऊँगा।" व्यथित हृदय से योगीन धीरे धीरे दक्षिणेश्वर उद्यान की ओर चले। ठाकुर के कमरे में पहुँचकर उन्होंने देखा कि वे छोटी चौकी पर दिगम्बर बैठे हैं। योगीन को देखते ही वे छोटे बच्चे की तरह धोती बगल में दबाए निकल आए। बहुत दिनों से अपेक्षित निधि को अचानक सामने पाकर भावमय पुरुष का

भावावेग उमड़ पड़ा। आज मानों कोई अद्भुत शक्ति उनके शरीर मन को आलोड़ित कर रही थी। योगीन का हाथ पकड़कर वे बोले, "विवाह किया तो क्या हुआ? मैंने भी तो विवाह किया है। विवाह किया है तो इसमें डरने की क्या बात है? (अपने सीने पर हाथ रखकर) यहाँ की कृपा रहे तो एक क्यों, लाख विवाह करने पर भी तेरा कुछ न बिगड़ेगा। यदि तेरी संसार में रहने की इच्छा हो तो एक दिन अपनी पत्नी को यहाँ ले आना। उसको ऐसा कर दूँगा कि वह तेरे धर्मपथ में सहायक ही होगी – बाधा कभी न होगी। और यदि संसार करने की इच्छा न हो तो बताना, (मैं) तेरी माया-ममता सब खा डालूँगा।"

ठाकुर की बातें सुनकर योगीन मुग्ध रह गए! "विवाह किया तो क्या हुआ?" यह कैसी नवीन बात है! जो कुछ सुना वह स्वप्न है या सत्य? "यहाँ की कृपा रहे तो एक क्यों, लाख विवाह करने पर भी तेरा कुछ न बिगड़ेगा" – दक्षिणेश्वर के इस 'पगले बाम्हन' ने यह परम आशा की वाणी सुनाकर उनके हृदय का भारी बोझ उतार दिया और चिरकाल के लिए उन्हें अपना बना लिया। चार आने पैसे वापस करने को ही वे उस दिन मन्दिर में आए थे, मन दे डालने के लिए तो नहीं! परन्तु बारम्बार पैसे का जिक्र करने पर भी ठाकुर ने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया – केवल इतना ही कहा, "उस टूटे टीन के डिब्बे में डाल दे।" अब उन्हें ठाकुर का हेतु समझने में देर न लगी। शान्त मन से वे घर लौटे और उसके बाद से पुनः पूर्ववत् कालीमन्दिर में आने-जाने तथा अपना अधिकांश समय ठाकुर के पास बिताने लगे।

योगीन के सगे-सम्बन्धी और यहाँ तक कि माँ भी इस पुनर्मिलन को आसानी से सहन न कर सके। क्योंकि इस बीच योगीन ने – चाहे स्वेच्छापूर्वक हो या परेच्छापूर्वक – विवाह के बन्धन में पड़कर एक बड़ा उत्तरदायित्व स्वीकार लिया था। पुत्र को घर-गृहस्थी के प्रति उदासीन देखकर माँ एक दिन बरस ही तो पड़ी – "अगर कमाने में मन न लगाएगा, तो फिर विवाह ही क्यों किया?" उत्तर में योगीन बोले, "मैंने तो उसी समय तुम लोगों से बारम्बार कहा था कि मैं शादी न करूँगा! तुम्हारा रोना सहन न कर पाने कारण ही तो अन्त में इसके लिए राजी हुआ था।" इस पर क्रोधित होकर माँ बोल उठीं, "यह भी कोई बात हुई! भीतर इच्छा न रहने पर भी तूने सिर्फ मेरे ही लिए विवाह किया है! – यह भी क्या सम्भव है?" माँ की बात सुनकर योगीन मानो आकाश से गिर पड़े। बड़े ही व्यथित होकर वे सोचने लगे – 'हा भगवान! जिसका कष्ट न देख सकने के कारण तुम्हें छोड़ने को तैयार हुआ, उसी के मुँह से ऐसी बात! जाने दो! इस संसार में मन के साथ मुख का मेल ठाकुर के अतिरिक्त और किसी में नहीं है। कहावत है – "जिसके लिए चोरी करूँ, वही कहे चोर।"' उनके सरल हृदय को बड़ा आघात पहुँचा। इसके

बाद वैराग्य और भी तीव्र हो जाने के फलस्वरूप वे कभी कभी रात भी ठाकुर के पास बिताने लगे।

ठाकुर अपने प्रत्येक शिष्य को उसी के भाव के अनुसार गढ़ लिया करते थे। किसी का भी भाव नष्ट नहीं करते थे। प्रारम्भ में योगीन आहार आदि के बारे में इतने अधिक निष्ठावान् थे कि दूसरे के घर का जल तक नहीं पीते थे। ठाकुर को यह बात भलीभाँति विदित थी। एक दिन वे योगीन के साथ विभिन्न स्थानों से होते हुए अन्त में सन्ध्या समय बागबाजार में श्री बलराम बोस के यहाँ पहुँचे। योगीन का पूरे दिन भोजन नहीं हुआ था – वे केवल जलपान करके ही घर से निकल पड़े थे। उनकी आचार-निष्ठा का स्मरण रखते हुए ठाकुर ने कहीं भी आहारादि का प्रसंग नहीं उठाया। इसीलिए बलरामबाबू के घर पहुँचते ही उन्होंने कहा, "अजी, (योगीन की ओर संकेत करते हुए) इनका आज भोजन नहीं हुआ, इन्हें कुछ खाने को दो।" बलराम ने ठाकुर के आदेश पर योगीन को सप्रेम जलपान कराया। बलराम की दी हुई वस्तुओं को ठाकुर पवित्र मानते थे, इसलिए योगीन के मन में भी बलराम तथा बलराम-भवन के प्रति श्रद्धा का उदय हुआ था और इसी कारण वे उस दिन बिना दुविधा के आहार कर सके।

इस प्रकार सहानुभूतिसम्पन्न गुरु की प्रत्यक्ष तथा परोक्ष शिक्षा के द्वारा योगीन का जीवनगठन होने लगा। एक दिन ठाकुर की अपूर्व सत्यनिष्ठा का परिचय पाकर उन्होंने उसे सर्वतोभावेन अपना लिया था। दक्षिणेश्वर में ठाकुर के पाँव सूजते देखकर कविराज महेन्द्रनाथ पाल ने उन्हें नींबू का रस लेने की सलाह दी। योगीन प्रतिदिन दो ताजे नींबू लाकर ठाकुर को देने लगे। परन्तु एक दिन ठाकुर उसका रस न ले सके। इस पर योगीन को आश्चर्य हुआ। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि वे जिस बगीचे से नींबू लाया करते थे, वह उसी दिन से दूसरे को हस्तान्तरित हो चुका था, अतः नये मालिक की जानकारी के बिना लाया हुआ नींबू ठाकुर के काम न आ सका।

कुलीन वंश में जन्मे तथा धार्मिक परिवार में पले योगीन को संसार का अधिक अनुभव नहीं था। सांसारिक व्यवहार के सम्बन्ध में वे अनभिज्ञ थे। इस तरह के लोगो को संसार के स्वार्थी व्यक्ति आसानी से ठग लेते हैं। पर ठाकुर की शिक्षा थी – "भक्त होना पर बुद्धू क्यों होना?" योगीन को भी एक दिन यह शिक्षा देने की आवश्यकता पड़ी। उस दिन योगीन एक कड़ाही खरीदने बाजार गए। उनकी धारणा थी कि दुकानदार को धर्म का भय दिखाने मात्र से अच्छी चीज मिल जाती है। तदनुसार उसकी बात पर विश्वास करके स्वयं जाँच किये बिना ही वे कड़ाही ले आए। किन्तु घर लौटने पर उन्हें पता चला कि कड़ाही फूटी हुई है। यह सुनकर ठाकुर उनकी खबर लेते हुए बोले, "भक्त होना है तो क्या इसके लिए बुद्धू बनना होगा? दुकानदार दुकान लगाकर क्या धर्म करने को बैठा है, कि तुम उसकी बातों

में आकर स्वयं जरा भी देखे बिना कड़ाही ले आए? फिर कभी ऐसा मत करना। कोई वस्तु खरीदनी हो तो चार दुकानों में देख-भालकर उसका उचित मूल्य पता करना, वस्तु लेते समय उसकी भलीभाँति जाँच करना, और जिस चीज में घाता मिलता है, उसे लेते समय वह घाता लिये बिना मत आना।"

योगीन भावुक तथा शान्त प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्हें यह पता न था कि अनेक भावप्रवण साधक झूठी सात्त्विकता के मोह में अपनी मानसिक दुर्बलता को प्रश्रय देते हुए व्यर्थ ही कष्ट मोल लेते हैं, और दूसरों के भी कष्ट का कारण होते हैं। इतना ही नहीं, बहुधा वे इस सम्बन्ध में गुरु की चेतावनी पर ध्यान न देकर अपने बचाव का रास्ता भी बन्द कर डालते हैं। ठाकुर ने अवसर पाकर योगीन को इस सम्बन्ध में सावधान कर दिया। ठाकुर के वस्त्र आदि रखी जानेवाली पेटी में तिलचट्टा कीड़ा आ गया था जिसे देखकर उन्होंने योगीन से कहा, "तिलचट्टे को बाहर ले जाकर मार डालो।" योगीन उसे बाहर ले तो गए परन्तु बिना मारे ही छोड़ आए। उन्होंने सपने में भी नहीं सोचा था कि ठाकुर इस सम्बन्ध में पुनः पूछेंगे। परन्तु उनके लौटते ही ठाकुर पूछ बैठे, "क्यों रे, तिलचट्टे को मार डाला न?" योगीन लज्जित होकर बोले, "नहीं महाराज, छोड़ दिया है।" इस पर ठाकुर ने उन्हें फटकारते हुए कहा, "मैंने तुझे मार डालने को कहा – और तूने उसे छोड़ दिया! मैं जैसा करने को कहूँ, ठीक वैसा ही करना। नहीं तो भविष्य में गुरुत्तर विषयों में भी अपने ही मन के अनुसार करके पछताएगा।"

काशीपुर के उद्यान-भवन में निवास करते समय एक दिन ठाकुर ने तीखुर मिलायी खीर, जो कलकत्ते में निमन्त्रण के अवसर पर परोसी जाती है, खाने की इच्छा प्रगट की। चिकित्सकों कों इसमें आपत्ति नहीं थी, अतः दूसरे दिन योगीन वैसी खीर खरीदने कलकत्ता चले। मार्ग में उनके मन में आया कि बाजार की खीर में तीखुर के अतिरिक्त और भी कितनी ही चीजों की मिलावट रहती है – उसे खाने पर कहीं ठाकुर की बीमारी बढ़ तो नहीं जाएगी! फिर सोचा – 'ठाकुर को तो मैंने इस बारे में पूछा नहीं, अतः किसी भक्त के घर से खीर बनवाकर ले जाने पर कहीं असन्तुष्ट तो न होंगे!' ऐसे ही विचारों की उधेड़बुन में वे बलराम-भवन पहुँचे और वहाँ सब कुछ बताया। भक्तगण भी बाजार की खीर पर असहमत हुए और घर में ही अच्छी खीर बनवा देने की इच्छा व्यक्त की। परन्तु इतने सबेरे खीर बना देना सम्भव न था, अतः योगीन से अनुरोध किया गया कि वे दो प्रहर तक वहीं बिताकर भोजन आदि करने के बाद तीसरे प्रहर में खीर ले जाएँ। योगीन भी इस प्रस्ताव पर सहमत हुए और खीर लेकर ४ बजे काशीपुर पहुँचे। इधर ठाकुर दोपहर में ही खीर की आशा में बड़ी देर तक राह देखते रहे; अन्त में प्रतिदिन जो आहार लेते थे वही लिया। बाद में योगीन के लौटने पर उनसे सब कुछ सुनकर

वे बोले, ''तुझे बाजार से खरीदकर लाने को कहा था, मेरी इच्छा बाजार की खीर खाने की थी, तू क्यों भक्तों के घर जाकर उन्हें कष्ट देकर ऐसी खीर ले आया? फिर यह खीर गाढ़ी और गरिष्ठ है, यह मुझे कैसे चलेगी? मैं इसे न लूँगा।'' और सचमुच ही उन्होंने उसे स्पर्श तक नहीं किया। उन्होंने माताजी को आदेश दिया की सारी खीर गोपाल की माँ को खिला दी जाए और कहा, ''यह भक्त की दी हुई चीज है! उसके भीतर गोपाल है – उसके खाने से ही मेरा भी खाना हो जाएगा।''

एक दिन कलकत्ते से ठाकुर के पास दक्षिणेश्वर आने के लिए योगीन अन्य यात्रियों के साथ नाव में चढ़े। इस बात का पता लगने पर सहयात्रियों में से एक व्यक्ति बोलने लगा – ''यह एक ढोंग है और क्या? अच्छा खाते-पीते हैं, गद्दी पर सोते हैं और धर्म का नाटक करके तमाम स्कूली लड़कों का दिमाग खराब कर रहे हैं'' इत्यादि। यह बात सुनकर योगीन बड़े दुःखी हुए, परन्तु स्वभाव के बड़े शान्त होने के कारण किसी बात का प्रतिवाद न कर चुपचाप बैठे रहे। उन्होंने सोचा कि ठाकुर को न समझ पाने के फलस्वरूप उनके बारे में दुनिया के कितने ही अज्ञानी व्यक्ति कितनी ही बातें सोचते हैं, इससे ठाकुर जैसे महान् व्यक्ति का भला क्या बनता-बिगड़ता है! कालीमन्दिर पहुँचने के बाद बातचीत के प्रसंग में उन्होंने ठाकुर के समक्ष यह घटना बतायी। उन्होंने सोचा था कि ठाकुर इन बातों पर कोई विशेष ध्यान न देंगे, परन्तु हुआ उल्टा ही। वे बोले, ''उसने अकारण मेरी निन्दा की और तू चुपचाप सुन आया! शास्त्र में क्या लिखा है पता है! – गुरुनिन्दा करनेवाले का सिर काट डालना, या फिर वह जगह छोड़ देना। तूने मिथ्या प्रचार का जरा भी प्रतिवाद नहीं किया?''

परन्तु यह सोचना गलत होगा कि ठाकुर सचमुच ही योगीन को दूसरों के साथ इन विषयों पर विवाद करने को उकसा रहे थे; वे तो मात्र उनके मन की एक दुर्बलता की ओर ध्यानाकर्षण कर रहे थे। ऐसी ही एक अन्य परिस्थिति में ठाकुर का व्यवहार देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाएगी। दक्षिणेश्वर की एक बदनाम स्त्री कालीमन्दिर के घाट पर स्नान करके लौटते समय रास्ते में ही दूर से ठाकुर को प्रणाम किया करती थी और कभी कभी दो-चार बातें भी करती थी। इस बात को लेकर गाँव में चर्चा होने लगी। दुष्ट लोगों के मुख से कुछ बुरी बातें सुनकर योगीन दृढ़तापूर्वक विरोध करते हुए बोले, ''ठाकुर पूर्णतया निर्मल हैं, चाहो तो जाँच कर सकते हो।'' एक व्यक्ति ने ऐसा ही किया और बाद में मित्रों से कहा, ''तुम लोगों के चक्कर में पड़कर आज मुझे अपमानित होना पड़ा। वह कहती है, 'मैंने देह भले ही बेची है, पर इतनी नीच नहीं हूँ कि उनके दिव्य चरित्र पर दोष मढ़ूँगी। तुम लोगों को मेरे देवता का अपमान करने का कोई अधिकार नहीं है' इत्यादि।'' योगीन से यह विवरण सुनकर ठाकुर बोले, ''कितने फालतू लोग कितनी ही बेतुकी

बातें करते रहते हैं? तू उन सब पर ध्यान ही क्यों देता है?'' इस प्रकार अलग अलग परिस्थितियों में समान सी प्रतीत होनेवाली घटनाओं में अलग अलग तथा परस्परविरोधी विधान दिखाई देते हैं।

अपनी जीवननौका का पतवार ठाकुर के दिव्य हाथों में सौंप देने पर भी योगीन का एक ही दिन में उन पर पूरा विश्वास जम गया हो ऐसी बात नहीं। सरल स्वभाव के युवक होने पर भी युग के प्रभास से उनका मन सन्देहमुक्त न था। फलतः वे हर बात में ठाकुर की परीक्षा कर लिया करते थे। पर हाँ, प्रत्येक परीक्षा के पश्चात् उनके आस्तिक मन में विश्वास दृढ़तर होता जाता था – नास्तिकों के समान धीरे धीरे गहनतर अन्धकार में खो नहीं जाता था। यहाँ पर कुछ उदाहरण देना अप्रासंगिक न होगा।

दक्षिणेश्वर-मन्दिर के नियमानुसार प्रतिदिन पूजा के बाद प्रसाद का कुछ अंश ठाकुर के पास आया करता था। ''एक बार फलहारिणी कालीपूजा के दूसरे दिन सबेरे लगभग आठ-नौ बजे ठाकुर ने देखा कि उनके कमरे में जो प्रसादी फल-मूल आदि पहुँचाने की व्यवस्था है, सो अभी तक नहीं पहुँचा है। कालीमन्दिर के पुजारी, अपने भतीचे रामलाल को बुलाकर कारण पूछा तो वे भी कुछ न बतला सके, उन्होंने कहा, 'सारा प्रसाद दफ्तर में खजांची के पास यथावत् भेजा जा चुका है, वहाँ से सभी को, जिसके लिए जैसा निर्दिष्ट है, वितरित हो रहा है; परन्तु यहाँ (ठाकुर) के लिए अब तक क्यों नहीं आया, कह नहीं सकता।' रामलालदादा की बातें सुनकर ठाकुर कुछ व्यग्र तथा चिन्तित से हो गए। दफ्तर से अभी तक प्रसाद क्यों नहीं आया? सभी से इस बात को पूछने तथा इसकी चर्चा करने लगे। इस प्रकार थोड़ी देर तक प्रतीक्षा करने के बाद भी जब उन्होंने देखा कि प्रसाद नहीं आया है, तो चप्पल पहनकर स्वयं ही खजांची के पास पहुँचे। कहा, 'क्यों जी, (अपने कमरे की ओर संकेत करते हुए) उस कमरे के लिए निर्धारित प्रसाद अब तक क्यों नहीं आया? भूल तो नहीं गए? इतने दिनों का पुराना बन्दोबस्त है, अब भूल से बन्द हो जाए – यह तो बड़ी अनुचित बात है।' खजांची कुछ लज्जित से होकर बोले, 'अभी तक आपके यहाँ नहीं पहुँचा? बड़ी अनुचित बात है। मैं अभी भिजवा देता हूँ।'

''अल्पवयस्क होने पर भी योगीन में वंशगौरव का भाव प्रबल था। वे कालीमन्दिर के खजांची आदि को शायद मनुष्य तक नहीं गिनते थे। अतः थोड़ेसे प्रसाद के लिए ठाकुर की इस तरह दौड़-धूप उन्हें अच्छी न लगी। फिर जब उन्हें स्मरण आया कि ठाकुर तो पेट के मरीज हैं, ये सब चीजें कुछ खा भी न सकेंगे, तो वे इस निर्णय पर पहुँचे – 'समझ गया! चाहे ठाकुर हों या कोई कितने भी बड़े व्यक्ति, वंशगत स्वभाव अपनी ओर खींचता ही है! वंशपरम्परा से चावल-केले का सीधा बाँधनेवाले

पुजारी-ब्राह्मण के घर में जन्म हुआ है, सो थोड़ा बहुत तो वंश का गुण रहेगा ही। इसके सिवा और क्या!' ऐसा विचार कर वे बैठे हुए थे कि उसी समय ठाकुर लौटे और उनसे कहने लगे, 'जानते हो, रासमणि इसलिए इतनी सम्पत्ति दे गयी है कि देवता का भोग होने के उपरान्त साधु-सन्त और भक्तों को प्रसाद मिले। यहाँ पर जो प्रसादी वस्तुएँ आती हैं, उन्हें भक्त लोग ही पाते हैं, ईश्वर को जानने के लिए जो लोग यहाँ आते हैं, वे ही पाते हैं। इससे रासमणि ने जिस उद्देश्य से दिया है, वह सफल होता है। परन्तु बाद में वे लोग (मन्दिर के ब्राह्मण लोग) जो सब ले जाते हैं, उसका क्या वैसा ही उपयोग होता है? चावल बेचकर पैसे बना लेते हैं। फिर किसी किसी के रखेलियाँ हैं, वह सब कुछ ले जाकर उन्हें खिलाता है। यही सब होता है। रासमणि ने जिस उद्देश्य से दान किया है, वह कुछ अंश तक तो सार्थक हो, इसीलिए मैं इतना झगड़ता हूँ।' इतनी सी घटना में इतना अर्थ! मुग्ध होकर योगीन महाराज सोचने लगे – 'ठाकुर को समझना कठिन है'।'' (लीलाप्रसंग)

दक्षिणेश्वर में एक बार और भी ठाकुर के उपदेश की उपयोगिता के बारे में योगीन के मन में भारी अविश्वास उत्पन्न हुआ। किन्तु ठाकुर की कृपा से ही वह दूर भी हो गया। 'लीलाप्रसंग' की भाषा में वह घटना इस प्रकार है – ''स्वामी योगानन्द की तरह इन्द्रियजित् पुरुष विरले ही देखने में आते हैं। उन्होंने दक्षिणेश्वर में ठाकुर से एक दिन वही प्रश्न (कामजय के बारे में) किया था। उस समय उनकी आयु कम थी – सम्भवतः चौदह-पन्द्रह वर्ष रही होगी, और थोड़े ही दिन पूर्व से वे ठाकुर के पास आने-जाने लगे थे। उन दिनों नारायण नामक एक हठयोगी भी दक्षिणेश्वर में पंचवटी के नीचे की कुटिया में रह रहे थे तथा नेति-धौती आदि क्रियाएँ दिखाकर किसी किसी में कौतूहल उत्पन्न कर रहे थे। योगेन महाराज कहा करते थे कि वे भी उनमें से एक थे और ये सब क्रियाएँ देखकर उन्होंने सोचा था कि सम्भवतः यह सब किये बिना काम नहीं जाता और न भगवद्दर्शन ही होता है। अतः ठाकुर से प्रश्न कर उन्होंने बड़ी आशा की थी कि वे कोई आसन आदि बता देंगे, हरीतकी या और कुछ खाने को कहेंगे, या फिर प्राणायाम की ही कोई क्रिया सिखा देंगे। योगीन महाराज कहते थे – 'ठाकुर ने मेरे प्रश्न के उत्तर में कहा – खूब हरिनाम करना, इसी से काम चला जाएगा। यह बात मेरे मन को जरा भी नहीं जँची। मैंने मन ही मन सोचा कि शायद ये कोई क्रिया आदि नहीं जानते, इसीलिए कुछ भी कह दिया। हरिनाम लेने से भी कहीं काम जाता है? तो फिर इतने लोग जो हरिनाम कर रहे हैं, उनका जाता क्यों नहीं? तत्पश्चात् एक दिन मैं कालीमन्दिर के उद्यान में आकर ठाकुर के पास न जा पहले पंचवटी में हठयोगी के पास खड़े खड़े मुग्ध होकर उसकी बातें सुन रहा था कि उसी समय मैंने देखा ठाकुर स्वयं ही वहाँ आ गए हैं। मुझे देखते ही उन्होंने बुलाया और हाथ पकड़कर अपने कमरे की ओर ले

जाते हुए कहने लगे, 'तू वहाँ क्यों गया था? वहाँ मत जाना। वह सब (हठयोग की क्रियाएँ) सीखने और करने पर मन शरीर पर ही लगा रहेगा, भगवान् की ओर नहीं जाएगा।' परन्तु ठाकुर की बात सुनकर मैंने सोचा – कहीं मैं उनके पास आना बन्द न कर दूँ, इसीलिए यह सब कह रहे हैं। मेरी शुरू से ही अपने बारे में ऐसी धारणा थी कि मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ – इसलिए बुद्धि को दौड़ाते हुए मैं ऐसा सब सोचने लगा! ... फिर मेरे मन में आया – वे जो कह रहे हैं, उसे करके ही क्यों न देखूँ कि क्या होता है? यह सोचकर मैं निष्ठापूर्वक खूब हरिनाम जपने लगा और वास्तव में थोड़े ही दिनों में ठाकुर ने जैसा कहा था वैसा प्रत्यक्ष फल पाने लगा।'' (गुरुभाव, पूर्वार्ध)

योगीन का सन्देह केवल ठाकुर के उपदेशों या लोकव्यवहार तक ही सीमित न था, एक बार तो उन्हें उनके चरित्र पर भी सन्देह हुआ था। उस दिन वे ठाकुर की अनुमति से कालीमन्दिर में ही रात को ठहरे थे। विविध प्रकार के ईश्वरीय प्रसंग में रात के करीब दस बज गए। भोजन करके दोनों एक ही कमरे में सोये। आधी रात को अचानक नींद खुल जाने पर उन्होंने देखा कि ठाकुर कमरे में नहीं हैं, दरवाजा खुला पड़ा है। सम्भव है वे बाहर टहल रहे हों, यह सोचकर योगीन उनकी तलाश में बाहर आए। एक तो आधी रात का समय, फिर निर्जन स्थान! – स्निग्ध चाँदनी छिटककर चारों दिशाओं को आलोकित कर रही थी, फिर भी ठाकुर कहीं दिखाई नहीं पड़े। अब योगीन के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ – तो फिर क्या वे पत्नी के पास शयन करने गए हैं? तो क्या वे भी मन-मुख से एक नहीं हैं? इस प्रसंग में उन्होंने बाद में कहा था – ''इस विचार के उठते ही मेरे मन में सन्देह, भय आदि अनेक भावों ने एक साथ उदित होकर मुझे अभिभूत कर डाला। बाद में मैंने निश्चय किया कि भले ही यह घटना अत्यन्त कठोर और रुचिविरुद्ध हो, पर सत्य का पता लगाना ही होगा। बाद में निकट के एक स्थान पर खड़ा होकर मैं नौबतखाने के द्वार की ओर टकटकी लगाए ताकता रहा। थोड़ी ही देर बाद पंचवटी की ओर से पादुका की ध्वनि सुनाई पड़ी और देखते ही देखते ठाकुर आकर सामने खड़े हो गए। मुझे देखकर वे बोले, 'क्यों रे, तू यहाँ क्यों खड़ा है?' उन पर मिथ्या सन्देह करने के कारण मैं लज्जा और भय से सहमकर सिर नीचा किये खड़ा रहा। उस प्रश्न का कोई उत्तर न दे सका। ठाकुर मेरा चेहरा देखते ही सारी बातें समझ गए और मेरा दोष न मानकर आश्वासन देते हुए बोले, 'ठीक है, ठीक है! साधु को दिन में देखना, रात में देखना, तभी विश्वास करना'।'' ठाकुर परीक्षा में खरे उतरे और उस दिन उसी समय एक अलौकिक दृश्य देखने के फलस्वरूप योगीन के मन से भी सन्देह का परदा सदैव के लिए उठ गया तथा उसके स्थान पर अटल श्रद्धा एवं तीव्र प्रेम का उदय हुआ। ठाकुर जब पंचवटी की ओर से लौट रहे थे,

तब योगीन की दृष्टि सहसा नौबतखाने के ऊपर की ओर गयी। उन्होंने चन्द्रप्रकाश में देखा – माताजी समाधिमग्न बैठी हुई हैं। उस समय उन्हें ऐसी अनुभूति हुई कि माँ साधारण मानवी नहीं हैं। सम्भवतः उसी दिन से योगीन सच्चे मातृभक्त हो गए और ठाकुर के देहत्याग के पश्चात् इसी भक्ति से प्रेरित हो अपना अधिकांश जीवन मातृसेवा में ही नियोजित किया।

दक्षिणेश्वर के पश्चात् हम योगीन को पुनः काशीपुर में देखते हैं। गुरुगतप्राण योगीन उस समय अपनी देह को भूलकर ठाकुर की सेवा में मग्न थे। परन्तु शरीर का भी तो अपना एक धर्म है, अतः वे शीघ्र ही बीमार पड़ गए। इस पर ठाकुर ने अत्यन्त दुःखपूर्वक कहा, "सेवा में त्रुटि न हो इसलिए तुम लोग अपने स्वास्थ्य की ओर ध्यान नहीं दे रहे हो; पर तुम लोगों का स्वास्थ्य यदि बिगड़ जाए तो मेरी देखभाल कौन करेगा? बच्चो, तुम लोग इतनी देरी से खाना-पीना मत करो।" उसके बाद से ठाकुर किसी को भी असमय खाने नहीं देते थे। केवल ठाकुर की सेवा में ही योगीन तत्पर रहते हों, सो बात नहीं; सेवा के अवसर पर वृथा कार्यों या बातों में भाग न लेकर वे आत्मचिन्तन में निमग्न रहते थे। स्वामी शिवानन्द ने कहा था - "काशीपुर में हम एक साथ ही थे, योगीन खूब ध्यान करता था।"

काशीपुर में ठाकुर की स्मृति के साथ योगीन और भी एक तरह से जुड़े हुए हैं। महासमाधि के आठ-नौ दिन पूर्व एक दिन ठाकुर ने योगीन को पंचांग लाकर बंगीय २५ श्रावण से आरम्भ कर प्रतिदिन का तिथि-नक्षत्र आदि पढ़कर सुनाने का आदेश दिया। तदनुसार उन्होंने श्रावण-संक्रान्ति तक के सभी दिनों का विशेष विवरण पढ़ा। ३१ श्रावण का तिथि-नक्षत्र आदि सुनने के बाद ठाकुर ने पंचांग रख देने को कहा। उसी दिन शुभ पूर्णिमा को रात १ बजकर ६ मिनट पर (१६ अगस्त, १८८६ ई.) ठाकुर देह त्यागकर महासमाधि में लीन हुए।

ठाकुर के लीलासंवरण के एक पक्ष बाद (३० अगस्त) माताजी ने वृन्दावन की यात्रा की। साथ में योगीन, लाटू, काली, गोलाप-माँ, लक्ष्मीदेवी तथा निकुंजदेवी भी गए। मार्ग में वैद्यनाथ, काशी और अयोध्या के दर्शन करते हुए ये वृन्दावन में कालाबाबू के कुंज में पहुँचे। रास्ते में योगीन को जोर का बुखार आ गया। जब तक उन्हें चेतना थी, वे यही चिन्ता कर रहे थे कि वृन्दावन में इन लोगों को कैसे उतारूँ। इसी समय उन्होंने देखा कि ठाकुर स्थिर बैठे हैं और निकट ही विकट आकृतिवाला ज्वरासुर खड़ा है। वह कह रहा था, "तुझे देख लिया होता, पर जा, तेरे गुरु परमहंसदेव के कारण कुछ नहीं कर सका। तुझे अभी छोड़ देना पड़ रहा है। खैर जाने दो, इसे (लाल वस्त्र पहनी एक नारीमूर्ति की ओर दिखाते हुए) रसगुल्ले खिला देना।" प्रातःकाल होते होते बुखार का नाम तक न रहा। बाद में जयपुर के मन्दिरों में दर्शन करते समय एक मन्दिर में वही मूर्ति देखकर योगीन ने सारी बातें

योगीन-माँ को बतायीं। भाग्यवश निकट ही रसगुल्ले की एक दुकान थी – देवी को भोग चढ़ाया गया। वह देवी सम्भवतः शीतला थीं। ठाकुर की कृपा से उस बार योगीन सम्भवतः चेचक से बच गए।

वृन्दावन में ठाकुर ने योगीन महाराज को एक विशेष इष्टमन्त्र की दीक्षा देने के लिए माताजी को आदेश दिया। तब तक उन्होंने किसी को भी दीक्षा नहीं दी थी, और यहाँ तक कि ठाकुर के दो-तीन सन्तानों के अतिरिक्त अन्य किसी के साथ वे बोलती तक न थीं। इसलिए पहले तो वे उस आदेश को मन का भ्रम समझकर चुप रहीं, परन्तु लगातार तीन दिन यही आदेश मिलता रहा। अतः उन्होंने योगीन से पूछा। पूछने पर पता चला कि ठाकुर ने उन्हें कोई मन्त्र देने की इच्छा प्रकट की थी, परन्तु बिना कुछ दिये ही अन्तर्धान हो गए। फिर उन्होंने कहा कि माताजी की तरह उन्हें भी मन्त्र लेने का आदेश मिला है। फिर एक दिन माँ ने पूजा करते समय भावावेश में उन्हें बुलाकर दीक्षा दी और इस प्रकार ठाकुर के आदेश का पालन किया।

एक महीने तक वृन्दावन में रहने के बाद निकुंजदेवी को मलेरिया हुआ और वे काली महाराज के साथ कलकत्ता लौट आयीं। कुछ महीने बाद लाटू महाराज भी कलकत्ता लौट आए। अतः अब से माताजी की सेवा का पूरा उत्तरदायित्व योगीन महाराज पर ही आया। वृन्दावन में माताजी ने एक वर्ष तक निवास किया। इसी बीच एक बार उन्होंने पैदल चलकर वृन्दावन की परिक्रमा की थी और सभी को साथ लेकर हरिद्वार तक हो आयी थीं। इसके पश्चात् वे लोग क्रमशः जयपुर, पुष्कर और प्रयाग होते हुए कलकत्ता पहुँचे। इस बार कलकत्ते के बलराम-मन्दिर में एक पक्ष तक रहकर माताजी योगीन महाराज तथा गोलाप-माँ के साथ कामारपुकुर गयीं। माँ को कामारपुकुर पहुँचाने के बाद योगीन महाराज अन्य गुरुभाइयों की तरह तीर्थदर्शन को निकले। वृन्दावन से लौटने के बाद वे अन्य गुरुभाइयों के समान संन्यास लेकर स्वामी योगानन्द के नाम से परिचित हुए थे। तपस्या के लिए बाहर निकलने पर भी वे अधिक दिन तक बाहर न रह सके। १८८८ ई. के मध्य में माताजी ने जब नीलाम्बर बाबू के उद्यान में आकर निवास किया, तो उन्होंने वहाँ आकर उनकी सेवा का भार ग्रहण किया। उस समय वराहनगर मठ के अन्य साधुगण आकर बीच बीच में उनको सहयोग देते थे।

१८८८ ई. अग्रहायण (नवम्बर) में स्वामी ब्रह्मानन्द, योगानन्द, सारदानन्द, योगीन-माँ, योगीन-माँ की माता, गोलाप-माँ और लक्ष्मीदेवी के साथ माताजी पुरीधाम को गयीं। तब तक रेलवे लाइन नहीं बनी थी। अतः सभी लोग कटक तक स्टीमर में गए और फिर वहाँ से बैलगाड़ी में पुरीधाम पहुँचे। माताजी योगानन्द आदि के साथ पौष महीने (जनवरी १८८९) तक नीलाचल में रहीं। तत्पश्चात् वे लोग कलकत्ते में बलराम-मन्दिर आए और तीन-चार सप्ताह बाद आँटपुर होते हुए कामारपुकुर के

लिए रवाना हुए। आँटपुर तक स्वामी विवेकानन्द, योगानन्द, प्रेमानन्द, सारदानन्द, अद्भुतानन्द, अभेदानन्द, मास्टर महाशय, वैकुण्ठनाथ सान्याल आदि अनेक लोग थे। इनमें से अधिकांश आँटपुर से लौट आए। योगानन्द, अभेदानन्द आदि माताजी के साथ तारकेश्वर होते हुए कामारपुकुर पहुँचे। इस बार माताजी लगभग एक वर्ष कामारपुकुर में रहीं। इस बीच स्वामी योगानन्द पुनः तीर्थभ्रमण को गए।

वैद्यनाथ, गयाधाम, प्रयाग, चित्रकूट, ओंकारनाथ आदि दर्शन करने के पश्चात् वे प्रयाग आकर चेचक से पीड़ित हुए। संवाद पाकर स्वामीजी तथा कुछ अन्य गुरुभाई उनके पास दौड़ आए। सौभाग्यवश बीमारी बढ़ी नहीं। उन्हें छोटी माता निकली थीं और वे थोड़े ही दिनों में स्वस्थ हो गए। आरोग्यलाभ के पश्चात् भी कुछ दिनों तक योगीन महाराज प्रयाग में ही रहे। १८९० ई. के प्रारम्भ में वे कलकत्ता लौट आए और भिन्न भिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार से माताजी की सेवा में आत्मनियोग किया। जहाँ तक हमें पता है, योगानन्दजी जयरामवाटी और कामारपुकुर में अधिक समय रहते हुए माँ की सेवा नहीं कर पाए। फिर भी माँ के कलकत्ता तथा बेलुड़ आदि स्थानों में निवास करते समय अथवा तीर्थयात्रा के समय वे छाया के समान उनके पीछे पीछे रहते हुए उनकी सेवा में नियुक्त रहते थे। अब माताजी के विविध स्थानों में निवास आदि के बारे में यथासम्भव एक कालक्रमानुसार विवरण दिया जा रहा है। इससे योगानन्द महाराज के अज्ञात जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा।

१८९० ई. के प्रारम्भ में माँ कलकत्ता लौटीं और बेलुड़ में राजू गुमास्ता के किराये के मकान में रहीं। बाद में कम्बुलिया टोला में मास्टर महाशय के मकान पर आयीं। १८९० ई. के ज्येष्ठ मास (मई) में वे बेलुड़ के घुसुड़ी नामक स्थान में एक किराये के मकान में थीं। योगानन्द यहाँ पर उनकी सेवा में नियुक्त थे। भाद्रपद (सितम्बर) तक माँ वहाँ रहीं। फिर रक्तातिसार होने के कारण उन्हें चिकित्सा के लिए वराहनगर-स्थित सौरीन्द्र ठाकुर के मकान पर लाया गया। उस समय योगानन्द वराहनगर मठ में रहते हुए माँ की देखभाल किया करते थे। इसके पश्चात् माँ बलराम-मन्दिर में आयीं और दुर्गापूजा के बाद कामारपुकुर होती हुई जयरामवाटी गयीं। १८९३ ई. आषाढ़ में माँ बेलुड़ लौटकर नीलाम्बरबाबू के मकान के दुमंजिले पर निवास करने लगीं। साथ में गोलाप-माँ और योगीन-माँ रहती थीं और बाहर नीचे के बैठके में रहते हुए स्वामी योगानन्द और त्रिगुणातीतानन्द उनकी सेवा में नियुक्त रहा करते थे। उस वर्ष के अन्तिम भाग (माघ या फाल्गुन) में माँ वायु-परिवर्तन के लिए कैलवार गयीं तो योगानन्द भी साथ गए। दो महीने बाद कैलवार से लौटकर माँ १८९४ ई. की दुर्गापूजा के पूर्व तक बेलुड़ में रहीं। पूजा के समय वे आँटपुर गयीं और वहाँ पूजा के कुछ दिन बिताने के बाद जयरामवाटी चली गयीं। इसी वर्ष फाल्गुन या चैत्र में माँ अपनी जननी आदि तथा योगानन्दजी के साथ तीर्थदर्शन को गयीं और

वृन्दावन में प्रायः दो महीने रहीं। तदुपरान्त कलकत्ता लौटकर, वहाँ कुछ दिन बिताने के बाद माँ गाँव को गयीं। १८९६ अप्रैल में कलकत्ता लौटकर उन्होंने बागबाजार के 'गोदामवाले' भवन में पाँच-छह महीने निवास किया। उसी मकान में सेवक योगानन्द भी रहे। १८९८ ई. के चैत्र या वैशाख में माँ बोसपाड़ा लेन १०/२ नं. के किराये के मकान में आयीं; उस समय योगानन्द भी उनके साथ आए।

मातृभक्त योगानन्द को यदि थोड़ेसे भी पैसे प्राप्त होते तो वे उन्हें सँभालकर रख लेते। ताकि माँ तीर्थदर्शन आदि-जाने पर अपनी इच्छानुसार खर्च कर सकें। इस प्रकार दो-चार आने जमा करते हुए उन्होंने माँ के लिए छह सौ रुपये एकत्र कर लिये थे। जगद्धात्री-पूजा के समय बरतनों की साफ-सफाई में सहायतार्थ माँ प्रतिवर्ष जयरामवाटी जाया करती थीं। यह देखकर योगानन्द महाराज ने पूजा के लिए काठ के बड़े बरतन, सिंहासन आदि बनवा दिये और माँ से कहा, "अब तुम्हें बरतन माँजने के लिए नहीं जाना होगा।" पूजा का खर्च चलाने के लिए उन्होंने तीन सौ रुपये एकत्र कर तीन बीघा जमीन भी खरीद दी थी।

योगीन महाराज जो इतने जी-जान से माँ की सेवा किया करते थे, वह केवल माँ को दीक्षागुरु मानने के कारण ही न था। दीक्षा के पूर्व भी यह सेवा विविध रूपों में अभिव्यक्त हुआ करती थी। ठाकुर के जीवनकाल में भी माँ गृहस्थी के कई विषयों में योगीन पर निर्भर थी। ठाकुर के श्यामपुकुर-निवास के प्रारम्भ में योगीन दक्षिणेश्वर में माँ की देखरेख किया करते थे। काशीपुर में रहते समय ठाकुर के लिए क्या व्यवस्था करनी होगी, यह माँ योगीन के माध्यम से सबको बतलाया करती थीं। ठाकुर का स्वास्थ्य उत्तरोत्तर अधिक बिगड़ता देखकर किसी किसी सेवक के हताश हो जाने पर माँ योगीन से कहला भेजतीं, "उससे कह दो, हताश मत होओ। उनका स्वास्थ्य तो आजकल थोड़ा अच्छा ही है, अब तो घाव का मुँह थोड़ा बाहर की ओर आया है" इत्यादि। ठाकुर के देहत्याग के पश्चात् माँ जब काशीपुर के श्मशान में शोकविह्वल हो गयी थीं, तब योगीन और बाबूराम ने ही उन्हें सान्त्वना प्रदान की थी। इस प्रकार योगीन सदैव ही मातृसेवा के लिए उत्सुक रहा करते थे। अन्य लोग जहाँ पीछे हट जाते, माँ को वहाँ योगीन मिल जाते। जैसे किसी दिन उन्होंने लाटू से बाजार जाने को कहा, पर मनमौजी लाटू का मन दूसरी ओर लगा होने के कारण वे न जा सके। तब योगीन को बुलाया गया और वे आनन्दपूर्वक कार्य सम्पन्न कर आए।

योगीन महाराज ने माताजी को जगदम्बा के रूप में पाया था और यह भी समझ लिया था कि स्वयं को उनके चरणों में पूरी तौर से सौंपकर ही वे निश्चिन्त हो सकते हैं। माँ के प्रति उनका क्या ही अगाध विश्वास था, यह बात एक दिन की घटना से स्पष्ट हो जाती है। शरत् महाराज ने एक बार उनसे कहा, "योगीन,

मैं तो नरेन की सारी बातें समझ ही नहीं पाता। वह कितने किस्म की बातें करता है – जब जिस (विषय) को लेता है, उसे इतना बड़ा कर डालता है कि उसके सामने बाकी सब बिलकुल छोटे हो जाते हैं।'' योगानन्द बोले, ''शरत्, तुझे एक बात बताये देता हूँ, तू माँ को पकड़, वे जो कुछ कहें वही ठीक मानना।'' इतने पर सन्तुष्ट न होकर वे उन्हें माँ के पास ले गए। इसी प्रकार शरत् महाराज ने धीरे धीरे माँ की सेवा का सौभाग्य पाया और मातृसेवा की पराकाष्ठा दिखाकर वे रामकृष्ण-संघ में चिरस्मरणीय हुए।

माँ की सेवा के फलस्वरूप पावनचरित योगानन्दजी के मन में ऐसा दृढ़ आत्मविश्वास जन्मा कि एक बार तो उन्होंने स्वामी विवेकानन्द की चेतावनी को भी अनसुनी करते हुए माँ की कृपा से निर्भीक हो एक असाधारण पथ पर चलने का साहस किया था। प्रथम बार विदेशों से लौटने पर स्वामीजी ने जब देखा कि योगीन के साथ एक ब्रह्मचारी भी माँ की सेवा में नियुक्त हैं तो उन्होंने इस ओर उनका ध्यान आकृष्ट करते हुए जानना चाहा, ''माँ के पास तरह तरह के लोगों का आना-जाना है, वहाँ रहते हुए यदि ब्रह्मचारी का मन अधोगामी हो तो इसके लिए कौन उत्तरदायी होगा?'' योगानन्द ने स्वाभिमानपूर्वक अपने सीने पर हाथ रखकर उत्तर दिया – ''मैं!'' सेवक योगानन्द के इस 'मैं' के पीछे किसकी अदृश्यशक्ति प्रेरक थी, यह कहने की बात नहीं।

योगीन की जैसी माताजी के प्रति भक्ति थी, माताजी का भी सन्तान के प्रति वैसा ही वात्सल्य था। उनके बारे में माताजी ने कहा था, ''योगीन कृष्णसखा गाण्डीवधारी अर्जुन है – धर्मराज्य के स्थापनार्थ भगवान् की नरलीला में सहायक होकर आया है। अपने प्रेमपात्र योगीन की स्मृति भी माँ के लिए एक स्नेह की वस्तु थी। योगानन्द ने माँ के लिए एक रजाई बनवा दी थी। उपयोग करने लायक न रह जाने पर एक दिन माँ ने एक भक्त को उसकी रुई धुनवाकर तथा नया गिलाफ लगवाकर ले आने के लिए कहा; पर थोड़ी देर बाद बोलीं, ''रहने दो, रजाई को ले जाने की जरूरत नहीं। यह रजाई योगीन ने दी थी – इसे देखते ही योगीन की याद आती है।'' योगानन्द के देहत्याग के बाद एक बार माँ ने कहा था – ''योगीन जैसा मुझे कोई भी नहीं चाहता था।'' फिर यह भी कहा था – ''मेरा भार क्या हर कोई ले सकता है? योगीन ले सकता था और शरत् ले सकता है।''

स्वामी योगानन्द के मठजीवन का वृत्तान्त, उनके जीवन की अन्य घटनाओं के ही समान ही प्राय: अज्ञात है। अत: कालक्रम के अनुसार उन घटनाओं को सम्बद्ध करने का व्यर्थ प्रयास न कर हम उनके आधार पर उनके व्यक्तित्व के विशेष पक्षों को प्रस्फुटित करने का प्रयास करेंगे। योगीन महाराज लम्बे और दुबले शरीर के थे। उनके नेत्रों के बारे में स्वामी विवेकानन्द कहते थे – ''मानो जगन्नाथ की आँखें''

दक्षिणेश्वर और काशीपुर में वे इतना अधिक ध्यान करते थे कि उनके नेत्र लाल रहा करते थे। इसीलिए ठाकुर कहते थे – ''अर्जुन के नेत्रों के समान नेत्र।'' मठजीवन में उनके ये अर्जुन-नेत्र सभी का ध्यान आकर्षित करते थे। एक प्रत्यक्षद्रष्टा की लेखनी ने उनका उस समय का चित्र इस प्रकार अंकित किया है :– ''एक दिन उन्होंने इन लम्बे, कृशकाय तथा अपूर्व नेत्रों वाले संन्यासी को वराहनगर मठ की ओर जाते देखा। संन्यासी के पाँव नंगे थे, कपड़े के नाम पर शरीर पर केवल एक धोती थी तथा मस्तक मुण्डित था। उनकी पीठ पर एक थैली में सब्जियाँ थीं तथा दाहिने हाथ में एक हण्डी। ठाकुरसेवा के लिए इन चीजों को लेकर कड़ी धूप में चले जा रहे थे। फिर भी प्रसन्न प्रशान्त वदन! कौन कहेगा कि ये सावर्ण चौधरी वंश के हैं?''

दूसरा चित्र बलराम-मन्दिर का है। मठ आलमबाजार को स्थानान्तरित हो चुका था पर मठजीवन का कष्ट धनाभाव तथा अनिश्चितता तब भी दूर नहीं हुई थी। ऐसी निराशा के दिनों में भी स्वामी योगानन्द के कण्ठ से एक बड़ी आशापूर्ण वाणी निकली थी। उस दिन बलराम-मन्दिर के बरामदे में टहलते हुए उन्होंने अपने साथी से कहा था – ''ईसामसीह के समय कुछ त्यागियों (संन्यासियों) ने निकलकर जगत् में उथल-पुथल मचा दी थी; इस युग में पुन: एक बार कुछ त्यागी निकलकर जगत् में उथल-पुथल मचा देंगे।'' ठाकुर की वाणी में कितना विश्वास होने पर उस सुदूर अतीत के घोर अन्धकार में भी, आशा का ऐसा आलोक प्रगट हो सकता है – पाठक क्या एक बार इस पर विचार करेंगे?

स्वामी शिवानन्द के मतानुसार योगीन महाराज अच्छे विनोदप्रिय थे। आलमबाजार निवासकाल में एक दिन भिक्षा से लौटकर उन्होंने नाट्यपूर्ण हावभाव के साथ अपना अनुभव सुनाकर मठवासियों को आमोदित किया था। उन्होंने कहा था – ''उस औरत के भला है ही क्या? एक घास-फूस की झोपड़ी, दो फटी गुदड़ियाँ और एक ताँबे का लोटा! हा! रे! कहती थी कि मैं उसके घर चोरी करने गया हूँ!'' कहना न होगा कि संन्यासी योगानन्द उन दिनों मान-अपमान से परे सहज आनन्द के सागर में उतर रहे थे।

निर्जनता उन्हे विशेष पसन्द थी। कुछ गीता, उपनिषद् आदि के अतिरिक्त उन्होंने अधिक शास्त्र आदि नहीं पढ़े थे, परन्तु स्वेच्छापूर्वक तपस्या उन्होंने खूब की थी। १८९१ ई. में उन्होंने स्वामी निरंजनानन्द के साथ प्रयाग में तपस्या की थी। तत्पश्चात् फरवरी में वे काशी गये और सीताराम के छत्र के सम्मुख रहते हुए गहन साधन-भजन एवं तप में डूब गये। उन दिनों बारम्बार भिक्षा माँगने में समय न गँवा वे एक ही बार में प्राप्त रोटियाँ रख दिया करते थे और उसी में से थोड़ा-थोड़ा पानी में भिगोकर तीन-चार दिन तक लिया करते थे। सम्भवत: इस प्रकार की कठोरता के फलस्वरूप ही बाद में उन्हें भीषण उदर रोग हो गया और वही उनके देहत्याग का

कारण भी हुआ। जो भी हो, काशी के लोग शान्तप्रकृति योगानन्द पर श्रद्धा रखते थे; इसीलिए काशी में उस वर्ष साम्प्रदायिक दंगा होने पर भी वे स्वाभाविक रूप से सब ओर भ्रमण कर सके – उन्हें किसी ने स्पर्श तक नहीं किया। कठोरता के कारण उत्पन्न अजीर्ण रोग से वे मई महीने में वराहनगर मठ लौट आये। अगस्त मे वे पुनः वाराणसी होते हुए प्रयाग गये। १८९२ ई. में वे आलमबाजार मठ को लौट आये और वहाँ कुछ महीने तक निवास किया।

इस प्रकार अन्तर्मुख रहने पर भी योगानन्द संसार के दुःखकष्टों के बारे में उदासीन न थे। उनके गाँव के एक व्यक्ति का रेल दुर्घटना में देहान्त हो गया। उसका परिवार असहाय हो गया। इस घटना से उनके मन को अत्यन्त दुःख हुआ और उन्होंने उन लोगों के लिए कुछ धन की व्यवस्था करा दी।

'वचनामृत' के ग्रन्थाकार में प्रकाशित होने में योगानन्द का कुछ हाथ था। मास्टर महाशय उस समय छोटीसी पुस्तिका के रूप में 'वचनामृत' का प्रकाशन कराना चाहते थे। योगानन्द की इच्छा थी कि वह बड़े ग्रन्थ के रूप में निकले; इसलिए उन्होंने माताजी से कहकर सब ठीक कर लिया। बाद में जब मास्टर महाशय माँ को प्रणाम करने आये तो माँ ने उन्हें उसे बड़े आकार में छपवाने का आदेश दिया। मास्टर महाशय ने उस आदेश का पालन किया।

ठाकुर के सन्तानों में प्रत्येक की अपनी अपनी विशेषता रहने पर भी उन सभी में एक प्रकार की सर्वतोमुखी प्रतिमा थी, जो यदा-कदा व्यक्त होकर सभी को विस्मित कर देती थी। योगानन्द की शास्त्रचर्चा भी ऐसी ही एक विस्मयकर वस्तु थी। माताजी जब बोसपाड़ा के मकान में रहती थीं, तब योगानन्द गिरीशबाबू के मकान पर भक्तों को साथ लेकर नियमित रूप से शास्त्रपाठ आदि किया करते थे। इसके अतिरिक्त स्वामीजी द्वारा रामकृष्ण मिशन की स्थापना किये जाने पर वे प्रायः विविध चर्चाओं में भाग लिया करते और अध्यक्षता भी करते थे।

स्वामीजी के साथ उनका सम्बन्ध बड़ा ही घनिष्ठ तथा स्नेहपूर्ण था। इनका पारस्परिक स्वच्छन्द व्यवहार तथा सहज वार्तालाप देखकर अपरिचित लोग इनके हृदय का भाव कुछ भी नहीं समझ पाते थे। कई बार तो वे यही सोचते थे कि इनके बीच सम्भवतः कुछ मनमुटाव ही चल रहा है। स्वामीजी के अमेरिका से लौट आने पर इस अभिनय ने कई लोगों का ध्यान आकर्षित किया था, परन्तु शीघ्र ही सब ने इसका मर्म समझ लिया और उन्हें इन प्रेमपूर्ण द्वन्द्वों में आनन्द ही आने लगा। इस प्रकार एक दिन बलरामबाबू के मकान पर स्वामीजी के साथ उनका तर्क आरम्भ हुआ। स्वामीजी द्वारा परियोजित तथा प्रारम्भ की हुई कार्यपद्धति के प्रति असन्तोष व्यक्त करते हुए योगानन्द बोले, "तुम्हारा यह सब कार्य विदेशी ढंग पर हो रहा है। क्या ठाकुर का ऐसा ही उपदेश था?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "तूने कैसे जाना

कि यह सब ठाकुर का भाव नहीं है? अनन्त-भावमय ठाकुर को तुम लोग अपनी सीमा में बाँध रखना चाहते हो! मैं यह सीमा तोड़कर उनके भाव सारी पृथ्वी पर बिखेर दूँगा।" वे और भी कहने लगे – "सेवा ही इस युग की साधना होगी, क्योंकि प्राचीन मत के अनुसार ठीक ठीक साधना करने में समर्थ व्यक्ति अत्यन्त दुर्लभ है, और यह बात भी सत्य नही है कि सेवा करने पर साधना के लिए समय नहीं मिलता, क्योंकि एक घण्टे भी मन को ठीक ठीक स्थिर कर पाने पर ईश्वरप्राप्ति में देर नहीं लगती।" उस दिन का यह विवाद अधिक देर तक नहीं चला क्योंकि स्वामीजी को कार्यवश बाहर जाना पड़ा। परन्तु योगानन्द का मत अपरिवर्तित रह जाने के कारण दो वर्ष बाद यह मतभेद एक अन्य घटना के माध्यम से पुनः व्यक्त हुआ। उस दिन महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के पास से भी प्रियनाथ शास्त्री आये और स्वामीजी की विचारधारा, कार्यप्रणाली तथा अन्य विषयों पर विचार-विमर्श करने लगे। वार्तालाप के अन्त में शास्त्रीजी ने कहा, "हम सभी विषयों में आपके साथ सहमत हैं, केवल आपके इस अवतारवाद में हम लोग आपका समर्थन नहीं कर सकते।" स्वामीजी ने कहा, "मैं तो अवतार कहकर ठाकुर का प्रचार नहीं करता।" उसी समय देखा गया कि योगानन्द के नेत्र आरक्त हो उठे है – "नरेन यह क्या कहता है?" शास्त्रीजी के जाते ही उन्होंने इस विषय पर घोर आपत्ति प्रगट की और गुरुभाइयों में से किसी किसी ने उनका समर्थन भी किया। उनका कहना था कि ठाकुर के कारण ही स्वामीजी बड़े हुए हैं, अतः उनके अवतारत्व के बारे में सन्देह व्यक्त करना अकृतज्ञता का द्योतक है। इस पर स्वामीजी हँसते हुए बोले, "मैं यदि प्रचार न करता तो तुम्हारे ठाकुर को कौन पहचानता?" योगानन्द भी दबनेवाले न थे, कहा, "वे न होते तो तुम बहुत हुआ तो डब्ल्यू. सी. बैनर्जी जैसे कोई बड़े बैरिस्टर हो जाते।" धीरे धीरे चर्चा अधिकाधिक गम्भीर होती गयी। परिणामतः स्वामीजी का हृदय आवेग से इतना पूर्ण हो गया कि वे आँसू न रोक सके एवं दूसरे कमरे में जाकर ध्यानमग्न हो गये। कहना न होगा कि उस चर्चा का वहीं अन्त हो गया। उस समय से गुरुभ्रातागण सदा सावधान रहा करते थे कि कहीं भाव का उच्छ्वास स्वामीजी के दुर्बल शरीर पर दुष्प्रभाव न डाले। योगानन्द भी इस बारे में सावधान थे, अतः उस घटना की अचानक ऐसी अप्रत्याशित परिणति देखकर वे भी बड़े दुःखी हुए और उन्होंने अपना यह दुःख दूसरों के सम्मुख व्यक्त भी किया। इस प्रकार कभी कभी वार्तालाप के प्रसंग में मतभेद व्यक्त होने पर भी गुरुभाइयों के बीच प्रीति की ऐसी एक मिलनभूमि थी, जहाँ सारी समस्याओं का समाधान स्वतः ही हो जाया करता था। अतः इस घटना के बाद एक दिन जब स्वामीजी ने योगीन महाराज से कहा, "देख योगा, तुम लोग क्या मुझे कार्य नहीं करने दोगे? तुम लोग अवतार क्या कहते हो? अवतार तो छोटी बात है, ठाकुर तो वेदमूर्ति हैं। मैं उन्हीं

के आदेश से कार्यक्षेत्र में उतरा हूँ।'' तो योगानन्द अविलम्ब बोल उठे, ''हम लोग तो सदैव से ही तुम्हारी बात मानते आये हैं; तो भी न जाने बीच बीच में कैसा संशय आ जाता है – ठाकुर को अन्य रूप में देखा है न!''

इतने पर से ही दोनों के मनोगत भाव तथा पारस्परिक प्रेम का यथार्थ परिचय नहीं हुआ। स्वामी योगानन्द सचमुच ही स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रचारित सेवाधर्म के विरोधी नहीं थे; यदि विरोधी होते तो वे रामकृष्ण मिशन की स्थापना होने पर उसके प्रथम उपाध्यक्ष क्यों बनते, तथा मिशन के बहुतसे अधिवेशनों का सभापतित्व करते हुए स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित कार्य में सहायक क्यों होते? साथ ही स्वामीजी के ठाकुर के प्रति प्रगाढ़ भक्ति-विश्वास के बारे में भी वास्तव में उनके मन में कोई सन्देह न था। इसीलिए उपरोक्त पहले दिन के विवाद के बाद ही उन्होंने वहाँ उपस्थित एक व्यक्ति से कहा था, ''अहा, नरेन के विश्वास की बात सुनी? कहता है – ठाकुर के कृपाकटाक्ष से लाखों विवेकानन्द तैयार हो सकते हैं। कैसी गुरुभक्ति है! उस भक्ति का सौवाँ भाग भी यदि हम लोगों में होता, तो धन्य हो जाते!'' उन्होंने और भी कहा था, ''नरेन नर ऋषि का अवतार है। नरेन में ऋषियों का वेदज्ञान, (आचार्य) शंकर का त्याग, बुद्ध का हृदय और शुकदेव का मायाराहित्य एवं ब्रह्मज्ञान की पूर्ण अभिव्यक्ति एक ही साथ विद्यमान है।''

स्वामीजी जानते थे कि ये सारी घटनाएँ बहुत ही ऊपर ऊपर की है; उनकी विचारधाराओं में भेद होने के उपरान्त भी, ठाकुर ने अपना कार्य सम्पन्न करने के लिए उन्हें प्रीति के जिस धागे में पिरोया है, उसे इन घटनाओं से कोई क्षति नहीं पहुँच सकती। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि योगानन्द को रामकृष्ण मिशन का उपाध्यक्ष मात्र बनाकर वे सन्तुष्ट नहीं हुए, वरन् वे कई मामलों में उन्हीं की विचारबुद्धि पर पूर्णतया निर्भर रहते थे। बेलुड़ मठ के लिए चुने गये भूखण्ड को खरीदने के पूर्व स्वामीजी ने उस पर अन्तिम निर्णय लेने के लिए योगानन्द को ही उसे देखने भेजा था। उस समय उनके साथ नाव में और भी कुछ भक्त गये थे। जमीन देखकर सभी लोग खूब सन्तुष्ट हुए और बहुत कुछ कहते रहे। एक भक्त ने कहा, ''यहाँ दो तालाब हैं; इनमें जो कमल खिलेंगे, उनसे ठाकुर की पूजा होगी।'' योगानन्द किसी भी वार्तालाप में भाग न लेकर घूमते हुए जमीन देखते रहे। उस समय उनके चेहरे पर सन्तोष तथा दिव्यभाव प्रगट हुआ और भूमि के बारे में पूछे जाने पर उन्होंने कहा, ''सुन्दर जमीन है।'' मठ लौटकर उन्होंने स्वामीजी को बताया, ''जमीन विस्तृत और सुन्दर है, तुम एक बार देख आओ।'' परन्तु स्वामीजी ने उन्हीं की बात पर निर्णय ले लिया; स्वयं देखने नहीं गये।

१८९७ ई. में स्वामीजी के अमेरिका से लौटने पर योगानन्द ने ही अग्रणी होकर उनके स्वागत की व्यवस्था की थी। इसके पूर्व भी स्वामीजी के अमेरिका प्रवासकाल में कलकत्ते के नागरिकों ने टाउनहाल में जब उनकी सफलता के लिए अभिनन्दन समारोह किया था, तब उन्होंने ही स्वामी अभेदानन्द को साथ लेकर सारा आयोजन किया था। इनकी पारस्परिक प्रीति के और भी उदाहरण उपलब्ध हैं। योगानन्द का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था, अतः अमेरिका से स्वामीजी बहुधा उनका समाचार पूछा करते थे और उनके बीमार रहने पर दुःख एवं चिन्ता प्रगट किया करते थे। भारत लौटने के बाद १८९७ ई. मई में जब स्वामीजी अल्मोड़ा गये तो योगानन्द को साथ ले गये और २० मई को स्वामी ब्रह्मानन्द को लिख भेजा – ''योगेन कुशल है।'' परन्तु योगानन्द को अल्मोड़ा सहन न हुआ और वे वहाँ दो ही महीने रहकर ९ जुलाई को निकल पड़े। स्वामीजी ने दुःख प्रगट करते हुए लिखा – ''योगेनभाई के लिए मैंने बहुत प्रयास किया, परन्तु थोड़ा आराम होते ही वह देश लौट गया।'' कलकत्ता लौटकर वे शीघ्र ही पुनः बीमार पड़ गये। कष्ट क्रमशः बढ़ता जा रहा है। समाचार पाकर स्वामीजी ने पत्र में निर्देश दिया – ''योगेन की चिकित्सा में कोई ढिलाई न हो – मूल तोड़कर भी पैसे खर्च करना।''

योगानन्द ने अपने जीवन के अन्तिम कुछ वर्ष भग्न स्वास्थ्य लेकर ही बिताये थे। पेट का रोग होने के कारण झोल-भात लेते थे। शारीरिक परिश्रम करने की क्षमता उनमें बिलकुल नहीं रही, पर इसके बावजूद ठाकुर के कार्य में उनका अदम्य उत्साह और उद्यम देखते ही बनता था। १८९५ ई. में उन्ही की प्रेरणा, उद्यम एवं उद्योग से दक्षिणेश्वर में बड़ी धूमधाम के साथ ठाकुर का जन्मोत्सव मनाया गया। तत्पाश्चात् १८९७ ई. तक प्रतिवर्ष वे वहाँ पर उत्सव का आयोजन करते रहे। उन दिनों वे अधिकांश बलराम-मन्दिर में रहा करते और उत्तरी कलकत्ता के अनेक लोगों के साथ उनका घनिष्ट सम्पर्क था। उनके आकर्षण से अहीरीटोला के अनेक स्वयंसेवक उत्सव में भाग लेकर सारे कार्य सुसम्पन्न करते थे। १८९८ ई. में दक्षिणेश्वर-मन्दिर के व्यवस्थापकों के साथ किसी विषय पर मतभेद हो जाने के कारण, उस वर्ष वहाँ पर उत्सव करना सम्भव न हो सका। परन्तु योगानन्द पीछे हटनेवाले नहीं थे। उन्होंने बेलुड़ के ही दाँ परिवार के मन्दिर में विराट् उत्सव कराया। अस्वस्थता के कारण वे स्वयं इस उत्सव में भाग न ले सके। यही उनके लिए अन्तिम उत्सव था, क्योंकि आगामी उत्सव के पूर्व ही अग्रहायण मास में उन्होंने माताजी के २०/२ नंबर बोसपाड़ा लेन के आवास में अन्तिम रोगशय्या ग्रहण की।

अन्तिम बीमारी के समय अनेक लोग उनकी सेवा किया करते थे। जब उनके दाँतो से रक्त निकलकर मुँह भर जाता तो उसे थूकने के लिए मुँह के पास एक पात्र पकड़ना पड़ता था। मुँह बन्द रहने के कारण उस समय वे बोल नहीं पाते थे – इशारा मात्र करते थे। कभी कभी इशारा समझ न पाने के कारण सेवक पात्र नहीं लाता था। इस पर रोगी का नाराज होना स्वाभाविक है। एक दिन एक युवक भक्त

सेवा करते समय उनका संकेत समझ नहीं पाया। योगीन महाराज ने उसे कुछ डाटाँ; पर दूसरे ही क्षण वे सब कुछ भूलकर युवक से बोले, "मुझे माफ करो।" नाराज तो सभी हुआ करते हैं, पर केवल महापुरुष ही इस प्रकार क्रोध का अतिक्रमण कर देवत्व प्रगट कर सकते हैं। अन्तिम बीमारी के समय महाराज के माता-पिता उनकी शय्या के निकट आये। पर देखा गया कि वे समस्त मायिक बन्धनों से अतीत हैं। उन्होंने उन लोगों से कहा, "मैं आशीर्वाद देता हूँ कि आप लोगों को भक्तिलाभ हो।" भगवत्-लीनचित्त योगानन्द को उस समय जागतिक सम्बन्धों के आधार पर औपचारिकता-प्रदर्शन करने का अवसर न था। योगीन महाराज का स्वास्थ्य क्रमशः बिगड़ता देखकर स्वामीजी के मन में जो तीव्र व्यथा हुई, उसका वर्णन कर पाना सम्भव नहीं। स्वामीजी ने उनसे कहा, "योगीन तू बच जा, मैं मर जाऊँ।" परन्तु दैव की गति अवर्णनीय है! वह किसी के दुःख-सुख या इच्छा-अनिच्छा पर ध्यान दिये बिना अपने ही ढंग से अपना कार्य किये जाता है। योगानन्द के स्वास्थ्य में सुधार का कोई भी लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हुआ। उस वर्ष ठाकुर के उत्सव में योगदान करना योगानन्द के लिए सम्भव नहीं हुआ। तब तक बेलुड़ मठ की स्थापना हो चुकी थी, पर वहाँ निवास करना भी उनके लिए सम्भव नहीं हुआ। एक दिन स्वामीजी उन्हें नाव में बेलुड़ मठ लाये और केवल दिखाकर ले गये।

बीमारी के बहुत बढ़ जाने पर एक दिन माताजी स्वामी योगानन्द की पत्नी को उनके पास ले आयीं। योगानन्द ने इस पर बड़ी आपत्ति की और कहा कि मृत्यु के समय अन्तिम क्षण स्त्री की सेवा क्यों ली जाए? माताजी ने पत्नी को पास लाकर योगानन्द से कहा, "तुम इससे दो-एक बातें कहो, थोड़ा उपदेश दो।" वैराग्यमूर्ति योगानन्द ने उत्तर दिया, "आप ही वह सब समझ लीजिए, मुझसे न होगा।" दीर्घ बारह वर्षों की मातृसेवा के बाद २८ मार्च १८९९ ई. को अन्तिम दिन आ पहुँचा। उस दिन स्वामी शिवानन्द ने उनसे पूछा, "योगीन, ठाकुर का स्मरण है न?" उन्होंने उत्तर दिया, "खूब स्मरण है, और भी अधिक, और भी अधिक!" अपराह्न में तीन बजकर दस मिनट पर रामकृष्ण-संघ का एक उदीयमान उज्ज्वल नक्षत्र अस्त हो गया। इस पर स्वामीजी ने कहा था – "बल्ली गिर पड़ी, अब धीरे धीरे पूरा ढाँचा भी गिर पड़ेगा।" माताजी ने मर्माहत होकर कहा था – "मकान की एक ईंट खिसकी, अब सब ढह जाएगा।"

□□□

स्वामी प्रेमानन्द

हुगली जिले के आँटपुर ग्राम में बहुतसे ब्राह्मण तथा कायस्थ परिवार निवास करते थे। इनमें घोष तथा मित्र वंशों की बड़ी ख्याति थी। स्वामी प्रेमानन्द के पिता श्री तारापद घोष और माता मातंगिनी देवी का जन्म यथाक्रम घोष और मित्र वंश में हुआ था। विवाह के बाद उन्हें कृष्णभाविनी नाम की एक कन्या हुई और तदुपरान्त तुलसीराम, बाबूराम और शान्तिराम इन तीन पुत्रों ने मातंगिनी देवी की गोद को अलंकृत किया। इनमें मँझले पुत्र बाबूराम ही हमारे स्वामी प्रेमानन्द हैं। आपका जन्म मंगलवार, १० दिसम्बर १८६१ ई. (अग्रहायण शुक्ला नवमी) को रात ११ बजकर ५५ मिनट पर हुआ। बाबूराम के जन्म के कुछ पहले या उसी वर्ष तारापद घोष ने अपनी कन्या कृष्णभाविनी का विवाह कोठार (उड़ीसा) के जमींदार श्री बलराम बोस के साथ कर दिया। बाबूराम के जन्म के कुछ वर्ष बाद ही तारापद स्वर्गवासी हुए।

बाबूराम बड़े घर के बड़े लाड़ले पुत्र थे। परन्तु बहुत बचपन से ही वे स्पष्ट रूप से समझ गये थे कि वे साधारण संसारी जीव नहीं हैं। यदि कोई उन्हें विवाह की बात कहकर चिढ़ाता तो वे अपनी टूटी-फूटी तोतली भाषा में बोल उठते, ''नहीं, विवाह मत कर देना, मर जाऊँगा, मर जाऊँगा।'' किशोर अवस्था में नदीतट पर किसी संन्यासी को देखने पर वे उसके साथ वार्तालाप में इतने मग्न हो जाते कि समय का बोध नहीं रह जाता था। आठ वर्ष की आयु में वे कल्पना किया करते थे कि वे लोगों की दृष्टि से दूर, वृक्ष-लता से आच्छादित किसी छोटेसे आश्रम में किसी संन्यासी के संग जीवन बिता रहे हैं।

आँटपुर का घोष परिवार अपने कुलदेवता लक्ष्मीनारायणजी की सेवा में रत रहा करता था। दान-पुण्य आदि के बारे में भी उनकी अच्छी ख्याति थी। इस धर्मपरायण परिवार के पवित्र वातावरण में बाबूराम का शैशव तथा बाल्य का कुछ समय बीता। ग्राम की पाठशाला में शिक्षा पूरी कर लेने के पश्चात् उच्चतर अध्ययन के लिए वे कलकत्ता आकर चोरबागान में अपने चाचा श्री गुरुचरण घोष के घर निवास करने लगे। बाद में वे कम्बुलियाटोला में रहने गये। बाबूराम पहले 'आर्यन स्कूल' में और बाद में 'मेट्रोपॉलिटन इन्स्टीट्यूशन' की श्यामपुकुर शाखा में भरती हुए।* 'वचनामृत'

* 'स्वामी अभेदानन्देर जीवनकथा' नामक बंगला ग्रन्थ (पृ. १०) के अनुसार बाबूराम १८७६ ई. में अभेदानन्द के साथ अहीरीटोला में यदु पण्डित के 'वंग विद्यालय' में पढ़ते थे।

– प्रणेता श्रीरामकृष्णामृत मास्टर महाशय इस द्वितीय विद्यालय के प्रधान अध्यापक थे। युगावतार के प्रबल आकर्षण के फलस्वरूप उन्होंने उनके चरणों में अपना जीवन तो अर्पित कर ही दिया था, पर केवल इतने से सन्तुष्ट न होकर वे सुविधानुसार विद्यालय के छात्रों के साथ भी श्रीरामकृष्ण के बारे में चर्चा किया करते थे और उनमें से किसी किसी को भक्तिमान् देखकर उसे दक्षिणेश्वर ले जाया करते थे। इसी प्रकार मास्टर महाशय के साथ जाकर बाबूराम ने श्रीरामकृष्ण का प्रथम दर्शन प्राप्त किया था। आगे चलकर एक बार मास्टर महाशय जब बेलुड़ मठ में आये तो बाबूराम महाराज उनके निकट बैठकर ठाकुर के बारे में चर्चा करते हुए, अचानक उनकी ओर संकेत करते हुए उपस्थित लोगों से बोले, "इन्हीं की कृपा से मेरा जीवन धन्य हो गया है। ये यदि ठाकुर के पास न ले जाते, तो क्या मुझे ठाकुर की कृपा मिल पाती?" परन्तु मास्टर महाशय उनसे भी अधिक विनयपूर्वक आपत्ति करते हुए बोले, "यह सब क्यों कहते हैं? आप ठाकुर के शुद्धसत्त्व अन्तरंग हैं – उन्होंने ही खींच लिया था।"

हाँ, बाबूराम ने इसके पूर्व भी एक दिन दैवयोग से जोड़ासाँको की हरिसभा में श्रीरामकृष्ण के दर्शन पाये थे – ठाकुर वहाँ पर श्रीमद् भागवत सुनने आये थे। किन्तु बाबूराम तब नहीं जानते थे कि ये ही दक्षिणेश्वर के परमहंसदेव हैं – यद्यपि उन्होंने अपने बड़े भाई तुलसीराम से पहले ही सुन रखा था कि दक्षिणेश्वर में एक महात्मा हैं, जिन्हें चैतन्य महाप्रभु के समान ही बारम्बार भावसमाधि हुआ करती है। फिर बाबूराम के दक्षिणेश्वर जाने के पूर्व ही उनके बहनोई श्री बलराम बोस श्रीरामकृष्ण के चरणों में आत्मसमर्पण कर चुके थे, अतः बाबूराम के परिवार में ठाकुर की बात अनजानी नहीं थी। बाबूराम के दक्षिणेश्वर हो आने के बाद से ये तथ्य क्रमशः प्रगट होते हुए उन्हें और भी बलपूर्वक आकर्षित करने लगे। यद्यपि ठाकुर के मानसपुत्र राखाल बाबूराम के साथ एक ही विद्यालय में अध्ययन करते थे और दोनों के बीच अच्छी घनिष्ठता भी थी, तथापि बाबूराम को उनके दक्षिणेश्वर आवागमन का पता नहीं था। श्रीरामकृष्ण के साथ परिचय होने के बाद ही बाबूराम को इस बात का पता चला। इसके बाद से दोनों का बहुतसा समय श्रीरामकृष्ण के बारे में चर्चा करने में बीतने लगा और कई बार तो वे दोनों एक ही साथ दक्षिणेश्वर जाने लगे।

दक्षिणेश्वर में प्रथम भेंट के दिन* से ही ठाकुर ने बाबूराम का अपने आत्मीय की ही तरह स्नेहपूर्वक स्वीकार किया था। बाबूराम का सुडौल सुकोमल शरीर, उज्ज्वल गौरवर्ण तथा भक्तसुलभ विनयपूर्ण आचरण आदि सद्गुण देखकर उन्हें पहचानते देर न लगी कि माँ ने जिन्हें ईश्वरकोटि कहकर निर्दिष्ट किया है, ये उन्हीं में से एक हैं। बाबूराम के अंग-प्रत्यंग आदि का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करने पर उनकी यह धारणा

* सम्भवतः १८८२ ई. के अन्त में (देखिए 'वचनामृत', दिसम्बर १८८२, प्रथम भाग, पृ. १३२)

और भी दृढ़ हो गयी, क्योंकि वे जानते थे कि श्रीमती राधिका के अंश से जिनका जन्म हुआ हो, वे ऐसे ही सुलक्षणों से सम्पन्न होते हैं। अन्त में जब उन्हें ज्ञात हुआ कि ये भक्तप्रवर बलराम के निकटसम्बन्धी हैं और श्रीमती राधा के ही अंश से जन्मी कृष्णभाविनी देवी के भाई हैं, तो फिर उनके आनन्द की सीमा न रही। बाबूराम को भी दक्षिणेश्वर में अपने बचपन का सपना साकार देखने को मिला – यही तो है स्वप्नानुरूप सागरगामिनी पावनसलिला गंगा, वही निर्जन पंचवटी, और उससे लगी हुई बहुतपोपूत साधनभूमि – कितना मनोरम! कैसा निःस्तब्ध! और यही तो हैं परब्रह्म में डूबे लोकातीत-चरित श्रीरामकृष्णदेव!

प्रथम परिचय के तीन-चार दिन बाद ही ठाकुर के भक्त राम दयाल चक्रवर्ती के साथ बाबूराम की बागबाजार में भेंट हुई। उन्होंने बाबूराम को बताया कि ठाकुर ने उन्हें याद किया है। देवमानव के अपार्थिव प्रेम से अनभिज्ञ बाबूराम ने विस्मयपूर्वक प्रश्न किया, "मुझे बुलाया है? क्यों?" इस प्रश्न का उत्तर उन्हें उस समय तो नहीं मिला, पर बाद में दक्षिणेश्वर जाकर नरेन्द्र के लिए ठाकुर की व्याकुलता देखने पर उन्हें थोड़ा आभास हुआ कि अलौकिक प्रेम क्या है। उस दिन शनिवार था। विद्यालय की छुट्टी होने पर बाबूराम राखाल के साथ दक्षिणेश्वर जाने के लिए हाटखोल की नाव पर सवार हुए। भक्त रामदयाल बाबू भी इसी उद्देश से उसी समय वहाँ आये और उनके दल में सम्मिलित हो गये। रास्ते में राखाल ने बाबूराम से पूछा, "रात को दक्षिणेश्वर में रहोगे क्या?" तब भी दक्षिणेश्वर के बारे में स्पष्ट धारणा न होने के कारण बाबूराम ने प्रतिप्रश्न किया, "क्या वहाँ पर रहने की जगह होगी?" राखाल सब जानते हुए भी सम्भवतः थोड़ा परिहास करते हुए बोले, "सम्भव है हो जाए।" फिर प्रश्न उठा, "रात के भोजन का क्या होगा?" राखाल ने उत्तर दिया, "जैसा भी हो, हो जाएगा।"

वे लोग इधर दक्षिणेश्वर पहुँच रहे थे और उधर भगवान् भास्कर पश्चिम क्षितिज में लालिमा बिखेरते हुए अस्ताचल को जा रहे थे। सन्धिप्रकाश में सभी मन्दिर अपूर्व रूप से शोभायमान हो रहे थे। इस साक्षात्कार के बारे में आगे चलकर बाबूराम महाराज ने स्वयं कहा था – "ठाकुर के कमरे में पहुँचकर ज्ञात हुआ कि वे मन्दिर में जगदम्बा के दर्शन करने गये हैं। स्वामी ब्रह्मानन्द हम लोगों से वहीं प्रतीक्षा करने के लिए कहकर उन्हें लाने मन्दिर की ओर गये। थोड़ी देर बाद देखा वे उन्हें अत्यन्त सावधानी के साथ सँभालकर 'यहाँ सीढ़ी चढ़ना होगा, यहाँ उतरना होगा' आदि कहते हुए ले आ रहे हैं। इसके पहले ठाकुर के भावविभोर होकर बाह्यचेतना-शून्य होने की बात सुन रखी थी, अतः उस समय ठाकुर को शराबी की तरह लड़खड़ाते हुए आते देखकर समझ गया कि वे भावावेश में हैं। इस प्रकार कमरे में प्रवेश करने के बाद वे छोटे तख्त पर बैठ गये। थोड़ी देर बाद स्वाभाविक अवस्था में आकर

उन्होंने मेरा परिचय पूछा, फिर मेरे मुँह, हाथ, पाँव आदि के लक्षण जाँचने लगे। कुहनी से उँगली तक मेरे हाथ का वजन जानने के लिए उसे थोड़ी देर तक अपने हाथ में लिये रहे और फिर बोले, "बहुत अच्छा।" इस प्रकार उन्होंने क्या समझा, वे ही जानें। तदुपरान्त उन्होंने रामदयालबाबू से नरेन्द्र का कुशलक्षेम पूछा और 'वे अच्छे हैं' सुनकर कहा, 'वह बहुत दिनों से यहाँ नहीं आया है, उसे देखने की बड़ी इच्छा हो रही है – एक बार उसे आने को कहना।'

"विविध प्रकार की धर्मचर्चा में कुछ घण्टे आनन्द में बीत गये। इस प्रकार दस बज गये। फिर हम लोगों ने भोजन किया और ठाकुर के कमरे के पूर्व ओर जो आँगन है उसकी उत्तर ओर के बरामदे में सो गये। ठाकुर और स्वामी ब्रह्मानन्द के लिए बिस्तर कमरे के भीतर ही लगा। लेटे एक घण्टा भी नहीं हुआ था कि ठाकुर अपनी धोती को बच्चों की तरह बगल में दबाये कमरे से बाहर निकले और हमारी शय्या के निकट आकर रामदयालबाबू को सम्बोधित करते हुए बोले, 'अजी, सो गये क्या?' हम दोनों घबड़ाकर बिस्तर से उठ बैठे और बोले, 'जी नहीं।' यह सुनकर उन्होंने कहा, 'देखो, नरेन्द्र के लिए प्राण में मानो गमछा निचोड़ने के समान जोर से ऐंठन हो रही है। उसे एक बार मिलने के लिए कहना! वह शुद्ध सत्त्वगुण का आधार है, साक्षात् नारायण है, उसे बीच बीच में देखे बिना मैं नहीं रह पाता।' उस रात ठाकुर के उस भाव का बिलकुल उपशम नहीं हुआ। यह सोचकर कि हम लोगों के विश्राम में बाधा हो रही होगी, बीच बीच में वे कुछ देर के लिए जाकर अपने बिस्तर पर लेट जाते परन्तु फिर दूसरे ही क्षण उस बात को भूल जाते तथा पुनः हम लोगों के निकट आकर नरेन्द्र के गुणों का बखान करते और उसे न देखने के फलस्वरूप अपने प्राणों में हो रही भीषण वेदना को मार्मिक भाषा में व्यक्त करने लगते। उनकी इस व्यथा को देखकर मैं सोचने लगा कि इनका प्रेम कितना अद्भुत है और जिसके लिए वे इस प्रकार कर रहे हैं, वह व्यक्ति कितना कठोर है! हमारी वह रात इसी प्रकार बीती।" (लीलाप्रसंग-दिव्यभाव)। यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि उस समय तक बाबूराम का नरेन्द्रनाथ के साथ परिचय नहीं हुआ था।

दूसरे दिन प्रातःकाल बाबूराम ने श्रीरामकृष्ण को देखा तो अति स्वस्थ और सहज थे – रात की वह अस्वस्थता, वह व्याकुलता, वह गमछा निचोड़ने जैसी व्यथा कुछ नहीं थीं। भीषण तूफान के बाद सागर जैसा शान्त स्थिर हो जाता है वैसे ही स्वाभाविक प्रशान्तवदन ठाकुर सामने विराजमान थे। फिर उनके आदेशानुसार बाबूराम ने कुछ समय पंचवटी में बिताया तथा ठाकुर को एवं कालीमन्दिर आदि में प्रणाम करके विदा ली।

इसके बाद जिस दिन वे दक्षिणेश्वर आये, वह रविवार था – कुछ भक्त ठाकुर के सम्मुख बैठे हुए वार्तालाप कर रहे थे। ठाकुर ने उन्हें देखकर स्नेहपूर्वक कहा,

"अच्छा हुआ, तुम आये। पंचवटी की ओर जाओ – वहाँ वे लोग वनभोजन कर रहे हैं। नरेन भी आया है, जाकर उसके साथ बातचीत करो।" पंचवटी के निकट जाकर बाबूराम ने देखा कि राखाल वहाँ बैठे हुए हैं, इसके अतिरिक्त अन्य युवक भक्त भी हैं। इसके पहले ही वे नरेन्द्र का गुणगान सुन चुके थे, आज उसी इच्छित व्यक्ति को अति निकट पाकर उनके आनन्द की सीमा न रही।

इसके पूर्व ही श्री बलराम बोस ने अपनी सास का श्रीरामकृष्ण से परिचय करा दिया था। भक्तिमती मातंगिनी देवी की ईश्वरनिर्भरता का परिचय श्रीरामकृष्ण को पहले ही मिल चुका था और वे यह भी समझ गये थे कि इष्टलाभ के लिए वे कुछ भी त्याग कर सकती हैं। एतदर्थ बाबूराम के आगमन के बाद एक दिन उन्होंने मातंगिनी देवी से अनुरोध किया, "इस लड़के को तुम मुझे दे दो।" इस अद्भुत और अप्रत्याशित अनुरोध पर तनिक भी विचलित न होती हुई मातंगिनी देवी ने उत्तर दिया, "बाबा, बाबूराम आपके पास रहेगा, यह तो अत्यन्त सौभाग्य की बात है।" बाबूराम का भी मन अब ठाकुर का और भी निकट सानिध्य प्राप्त करने के लिए लालायित था; अतः ठाकुर का आमन्त्रण और माँ की सहमति पाकर वे प्रायः दक्षिणेश्वर में आकर रहने लगे। उन दिनों परम कारुणिक ठाकुर का स्नेह सैकड़ों रूपों में व्यक्त हुआ करता था। बाबूराम के बारे में वे कहा करते, "वह मेरा हमदर्द है।" फिर सुर के साथ गाते –

"मन की बात कैसे कहूँ सखी कहना, है मना।
प्राण न बचें दरदी के बिना।।"

परवर्ती जीवन में ठाकुर के प्रेम का उल्लेख करते हुए बाबूराम महाराज मठ के साधु-ब्रह्मचारियों से कहा करते थे – "मैं तुम लोगों से भला क्या प्रेम करता हूँ? यदि कर पाता तो तुम लोग आजीवन मेरे गुलाम बने रहते। अहा! ठाकुर हम लोगों से कितना प्रेम करते थे। उसका शतांश भी हम तुम लोगों से नहीं करते। किसी किसी दिन रात के समय उन्हें पंखा डुलाते मुझे नींद लग जाती, तो वे मुझे अपनी मसहरी के अन्दर लेकर बिछौने पर सुला देते। इस ख्याल से कि मेरे लिए उनके बिछौने का उपयोग करना उचित नहीं, मैं आपत्ति करता। इस पर वे कहते, 'बाहर तुझे मच्छर काटेंगे, आवश्यकता होने पर मैं जगा दूँगा।"

बाबूराम के अधिक दिनों तक कलकत्ते से न लौटने पर ठाकुर व्यग्र हो जाते और उनके लिए भीषण गर्मी में भी कलकत्ता चले आते थे। १८८५ ई. चैत्र (अप्रैल) की कड़ी धूप में एक दिन बलराम-मन्दिर में आकर उन्होंने कहा, "मैंने कह दिया था कि तीन बजे आऊँगा, इसीलिए आना पड़ा। परन्तु धूप बड़ी तेज है। ... छोटे नरेन और बाबूराम के लिए मैं आया।" (वचनामृत, ६ अप्रैल, १८८५)

बाबूराम के बारे में ठाकुर कहा करते थे – "यह नैकष्य* कुलीन है। इसकी हड्डियाँ तक शुद्ध हैं।" भावमुख में उन्होंने बाबूराम को देखा था – "देवीमूर्ति है। गले में माला है, सखियाँ साथ हैं।" कहा था – "उसने स्वप्न मे कुछ पाया है, वह शुद्धसत्त्व है, थोड़ेसे यत्न करने से ही उसकी आध्यात्मिक जागृति हो जाएगी। बात यह है कि (मुझे) देहरक्षा के लिए बड़ी असुविधा हो रही है। वह अगर आकर रहे तो अच्छा है।" (वचनामृत, २० जून, १८८४) और एक दिन कहा था – "कल भावावस्था में एक ही तरह बैठे रहने के कारण पैरों में दर्द होने लगा था। इसीलिए बाबूराम को ले जाया करता हूँ। सहृदय है।" (वचनामृत, ७ सितम्बर, १८८४) भावावस्था में ठाकुर हर किसी का स्पर्श सहन नहीं कर पाते थे। उन्हें गिरते हुए देखकर अचानक यदि कोई सँभालने जाता तो वे कष्ट का अनुभव करते थे। अतः उस समय उन्हें पकड़े रहने के लिए हमदर्द और यथार्थ कुलीन बाबूराम को साथ साथ रहना पड़ता था। ठाकुर यद्यपि अब्राह्मण के हाथ का अन्न ग्रहण नहीं कर पाते थे, तथापि बाबूराम की पवित्रता के बारे में पूर्ण निःशंक होने के कारण एक बार उन्होंने कहा था, "तू एक दिन मेरे लिए पकाना, तेरे हाथ का खाऊँगा।" परन्तु, कार्यतः ऐसा सम्भव न हो सका।

स्नेह और विश्वास में कोई कमी न रखने के उपरान्त भी ठाकुर किसी का भाव नष्ट करने के विरोधी थे, इसीलिए एक बार उन्होंने अपने दुलारे बाबूराम के अनुरोध की भी उपेक्षा की। दक्षिणेश्वर में आनेवाले भक्तों को भावसमाधि होते देखकर एक दिन बाबूराम ने ठाकुर को पकड़ा – "मेरी भी भावसमाधि कर देनी होगी।" ठाकुर ने कितना कहा, "मेरी इच्छा से क्या होता है रे! माँ की इच्छा हुए बिना नहीं होता", परन्तु वे अपने हठ पर अड़े ही रहे – "आपको करना ही होगा।" अन्ततोगत्वा ठाकुर ने जगदम्बा के चरणों में निवेदन किया; पर उत्तर मिला – "बाबूराम को भाव नहीं होगा, ज्ञान होगा।"

बाबूराम आदि को ठाकुर साधारण भक्त के रूप में नहीं देखते थे, वे इन लोगों को अपने त्यागी सन्देशवाहक और उत्तराधिकारी के रूप में गढ़ रहे थे। इसीलिए वे उनके बारे में अत्यन्त सावधान रहते थे। एक दिन हाजरा महाशय बाबूराम आदि कुछ अल्पवयस्क युवकों को विविध उपदेश देते हुए समझा रहे थे – "श्रीरामकृष्ण सिद्ध महापुरुष हैं। उनसे सिद्धियाँ तथा अन्य शक्तियाँ माँगी जा सकती हैं। यह न करते हुए केवल अच्छी तरह खा-पीकर उनके साथ सुखपूर्वक रहने से क्या लाभ?" ठाकुर निकट ही थे – हाजरा की करतूत देखकर उन्होंने बाबूराम को निकट बुलाकर कहा, "बताओ, तुम लोग क्या चाहते हो? मेरे जो कुछ भी है, सब तुम्हीं लोगों

* कसौटी पर कसा खरा, यथार्थ, या विशुद्ध।

के लिए तो है। मुझे जो भी अनुभूतियाँ आदि हुई हैं, सब तुम्हीं लोगों के लिए है। भिखारी की तरह कंगलापन मत दिखाना – वह मानव को मानव से अलग कर देता है। बल्कि मेरे साथ अपना सम्बन्ध अच्छी तरह समझ लो और सम्पूर्ण धन के अधिकारी बनने का प्रयास करो!"

वस्तुतः अपनी अलौकिक दृष्टि की सहायता से देखकर ठाकुर बाबूराम को एक असाधारण जीवन तथा अचिन्त्य भविष्य के लिए गठित कर रहे थे। बाबूराम महाराज ने स्वयं ही कहा है – "वे गृहस्थों को एक प्रकार के तथा त्यागियों को दूसरे प्रकार के उपदेश दिया करते थे। कमरे में जब कोई गृही भक्त नहीं रहता था, तब दरवाजा बन्द करके हम लोगों को त्याग-वैराग्य के उपदेश दिया करते थे – फिर बीच बीच में बाहर जाकर देख आते थे कि कहीं कोई संसारी व्यक्ति तो नहीं आ टपका। वे काम-कांचन के दोषों की बातें दृष्टान्त देकर कहा करते थे, ताकि वे बातें हमारे प्राणों में बिंध जाएँ और काम-कांचन के प्रति हमें विरक्ति आ जाए।" और यह केवल उपदेश के रूप में ही हृदय में बिंध जाता हो ऐसी बात नहीं, बल्कि जगदम्बा के निर्देशानुसार परिचालित ठाकुर का प्रत्येक आचरण उसी के अनुरूप आदर्श स्थापित करते हुए मन में विश्वास पैदा कर देता था कि इन उपदेशों के पीछे गूढ़ अनुभूतियाँ तथा अनुपम जीवन विद्यमान है। एक रात बाबूराम कमरे की फर्श पर चटाई बिछाकर सो रहे थे – मध्यरात्रि को ठाकुर की पदध्वनि सुनकर नींद खुल गयी और उन्होंने देखा कि वे अर्धबाह्यदशा में धोती को बगल में दबाये कमरे में चारों ओर घूम रहे हैं और 'थू थू' करते हुए कह रहे है, "मत दे माँ, मत दे।" माँ मानो उन्हें टोकरियाँ भर-भरकर नाम-यश देने को आयी हैं, और वे त्रस्त शिशु की भाँति भयभीत होकर विनती के स्वर में कह रहे हैं, "मत दे माँ, मत दे!" एक और दिन ठाकुर ने बाबूराम को कामिनी की माया से मुक्त रहने का उपदेश दिया था। ठाकुर उस दिन बलराम-मन्दिर में थे। शौच के बाद बाबूराम उनके हाथ पर जल डाल रहे थे। उसी मकान के एक हिस्से में उस समय बालिका विद्यालय था। बाबूराम जब उस कार्य में लगे थे, तब एक बालिका अपना आँचल पकड़कर उसके छोर में बँधे चाभी के गुच्छे को खनखन ध्वनि के साथ घुमा रही थी। बाबूराम का ध्यान उस ओर आकर्षित करते हुए ठाकुर बोले, "देख, स्त्रियाँ पुरुषों को ऐसे ही बाँधकर खनखन घुमाया करती हैं। तू क्या उनके हाथों में इसी प्रकार घूमना चाहता है?"

इस सम्बन्ध में दूसरी घटना भी वैसी ही शिक्षाप्रद है। बाबूराम तब भी मास्टर महाशय के विद्यालय में छात्र थे। मास्टर महाशय श्यामपुकुर में रहते थे। उस बार कलकत्ते में विसूचिका रोग फैला। मास्टर महाशय के घर में भी उस रोग का आक्रमण हुआ। बाबूराम आदि छात्र रोगियों को देखने उनके घर जाने लगे। ठाकुर

ने यह समाचार पाकर एक दिन मास्टर महाशय को सावधान कर दिया, "अजी, घर में तुम्हारी युवती पत्नी है – तुम लड़कों को इस प्रकार घर में क्यों आने देते हो?" मास्टर महाशय ने बतलाया कि वे उनके विद्यार्थी हैं, अतः इसमें दोष नहीं है। परन्तु ठाकुर इस पर चुप नहीं रहे; उन्होंने उसी चेतावनी को पुनः दुहराया। सम्भवतः मास्टर महाशय तब भी नहीं समझ सके कि ठाकुर छात्र एवं शिक्षक के बीच के सामान्य सम्बन्ध के बारे में नहीं कह रहे हैं – वरन् उनकी दृष्टि अपने चिह्नित त्यागी सन्तान की कठोर साधना के प्रति निबद्ध है। उस समय बाबूराम की आयु लगभग तेईस वर्ष रही होगी।

जिस प्रकार पक्षिणीमाता अपने शावक को पंखों के नीचे लिए उसकी रक्षा करती है, उसी प्रकार ठाकुर सर्वदा इन सांसारिक दुर्बलताओं से बाबूराम की रक्षा किया करते थे। परन्तु ऐसा होने पर भी ठाकुर अपनी सन्तान के अन्तर्निहित प्रेम को संकुचित न करते हुए नियोजित प्रणाली के अनुसार विविध रूपों में विकास के पथ पर ही ले जा रहे थे। इसीलिए भोग्यवस्तुओं से उन्हें सावधानीपूर्वक दूर खींच लेने पर भी वे उन्हें भक्तसेवा के लिए सदैव प्रोत्साहन दिया करते थे। बाबूराम महाराज ने एक बार कहा था – "दक्षिणेश्वर में देखा है, किसी भक्त के आने पर ठाकुर कितनी ही तरह से उसका स्वागत-सत्कार करते थे। पूछते थे, 'पान खाओगे?' पान न लेने पर पूछते थे, 'तम्बाकू पीओगे?' इसलिए हम लोगों को भी वैसी ही आदत पड़ गयी है।" भक्तसेवा का यह भाव बाबूराम महाराज को पूर्णमात्रा में उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ था। इसके उदाहरण हमें आगे यथास्थान मिलेंगे।

बाबूराम मेधावी छात्र नहीं थे; विशेषकर श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में आने के बाद धर्मभाव का विशेष जागरण होने से उनका मन विद्यालय से बहुत कुछ उचट सा गया था। इसलिए वे प्रवेशिका परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सके। (१८८५ ई.) परीक्षाफल निकलने के कुछ दिन बाद बाबूराम वैकुण्ठनाथ सान्याल के साथ दक्षिणेश्वर गये। वहाँ वार्तालाप के प्रसंग में सान्याल ने कहा, "यह परीक्षा में पास नहीं हुआ।" सुनकर ठाकुर हँसते हुए बोले, "अच्छा ही तो है – वह पाशमुक्त हुआ। जिसके जितने 'पास' हैं, उसके उतने ही पाश (बन्धन) हैं।" बाबूराम ने राहत की साँस ली, क्योंकि ठाकुर यद्यपि जानते थे कि बाबूराम संसार में फसेंगे नहीं और इसी उद्देश्य से उन्हें वैराग्य का उपदेश दिया करते थे, फिर भी हम जिस समय का वर्णन कर रहे हैं, उस समय तक बाबूराम के जीवन में वह आदर्श उतना प्रस्फुटित न हो पाने के कारण हो, या आगे चलकर उनके द्वारा महान् कार्य साधित करने के उद्देश्य से हो, ठाकुर बाबूराम का भाव नष्ट न करके, उन्हें अध्ययन से निरुत्साहित नहीं करते थे, वरन् प्रोत्साहित ही करते थे। उन दिनों मास्टर महाशय के साथ हुए वार्तालाप से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है। उस दिन ठाकुर ने मास्टर महाशय से

कहा, "अच्छा, बाबूराम की क्या पढ़ने की इच्छा है? बाबूराम से मैंने कहा, तू लोकशिक्षा के लिए पढ़।" (वचनामृत, २० जून, १८८४) अनन्त भावसम्पदा से सम्पन्न ठाकुर का पूरा परिचय बाबूराम को तब भी नहीं मिला था, इसीलिए उन्हें भय था कि परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर कहीं ठाकुर नाराज न हों। पर उनका आज का व्यवहार देखकर वह संकट दूर हुआ। और वस्तुतः बाबूराम यदि विचार करते तो समझ जाते कि इसके पूर्व भी ठाकुर ने उनके मन में वैराग्य संचारित करने हेतु एक बार यही प्रसंग उठाकर कहा था, "तेरी पुस्तकें कहाँ हैं? तू लिखे-पढ़ेगा या नहीं? (मास्टर से) वह दोनों ओर सँभालना चाहता है। बड़ा कठिन मार्ग है। उन्हें जरा सा समझ लेने से क्या होगा?... अज्ञानरूपी काँटे को निकालने के लिए ज्ञानरूपी काँटा संग्रह करना पड़ता है; फिर ज्ञान और अज्ञान के पार जाया जाता है।

"बाबूराम (हँसकर) – मै यही चाहता हूँ। ...

"श्रीरामकृष्ण (सहास्य) – अरे दोनों ओर रक्षा करने से क्या वह बात होती है? अरे अगर तू चाहता है, तो चला आ निकलकर!

"बाबूराम (हँसकर) – आप ले आइए।

"श्रीरामकृष्ण – तू कमजोर है। तुझमें हिम्मत कम हैं। ... (मास्टर से) – मैं कामिनी-कांचनत्यागी खोज रहा हूँ। सोचता हूँ, यह काम शायद रह जाएगा। सब के सब कोई न कोई अड़ंगा लगा देते हैं।" (वचनामृत, ७ मार्च, १८८५)

हमदर्द बाबूराम के ऊपर ठाकुर कितना निर्भर रहते थे, इसका एक सुन्दर दृष्टान्त है। एक दिन ठाकुर 'चैतन्यलीला' अभिनय देखने निकले। उन्होंने बाबूराम को साथ लिया और कहा, "वहाँ समाधिस्थ हो जाने पर सभी मेरी ही ओर देखने लगेंगे और गड़बड़ करने लगेंगे! मुझमें वैसा होने की सम्भावना देखने पर तू अन्य विषयों की खूब बातें करने लगना।" ऐसा निश्चय करके वे अभिनय देखने गये परन्तु जिस मन की स्वाभाविक गति ही समाधि की ओर थी और जिसे कृत्रिम उपायों से बलपूर्वक साधारण भूमि पर खींचकर रखना पड़ता था, वह मन उद्दिपक विषय के सान्निध्य में भला कैसे निष्क्रिय रह पाता! अतः ठाकुर शीघ्र ही समाधिस्थ हो गये। तब बाबूराम भगवन्नाम सुनाते हुए उनके मन की गति को व्यावहारिक जगत् की ओर लौटा लाये। ऐसा और भी कितनी बार हुआ है; परन्तु इस प्रकार विश्वस्त सेवक तथा पार्षद के रूप में दक्षिणेश्वर में निवास, ठाकुर के साथ सर्वत्र आवागमन तथा उनका स्नेहस्पर्श प्राप्त करने पर भी बाबूराम कभी गर्व से फूलते नहीं थे। बाद में उन्होंने कहा था – "ठाकुर के पास उनकी सेवा के लिए कोई अपवित्र व्यक्ति न रह पाता था। ठाकुर की कृपा न होती तो मैं भी उनके पास नहीं रह पाता। अब सोचता हूँ मैं कैसे रहता था! – थोड़ासा भाव का उद्रेक होते ही वे एकदम समाधिस्थ हो जाते थे!" वस्तुतः वे ऐसे सौभाग्य का कारण बताते हुए ठाकुर की कृपा की बात कहकर

ही चुप हो जाते, अपनी स्वयं की आबाल पवित्रता का उल्लेख तक नहीं करते थे।

धीरे धीरे दक्षिणेश्वर के दिन समाप्त हो आये। तदुपरान्त बाबूराम तथा अन्य त्यागी युवकों की काशीपुर में श्रीरामकृष्ण की सेवा, उनके देहत्याग के बाद वराहनगर मठ स्थापित होने पर उन सब का वहाँ आगमन एवं तदनन्तर १८८६ ई. दिसम्बर मास मे आँटपुर से आकर संन्यास-ग्रहण – इन बातों का वर्णन हम अन्यत्र कर आये है। संन्यास के समय ठाकुर की वाणी स्मरण करते हुए बाबूराम को स्वामी प्रेमानन्द नाम दिया गया। पहले वराहनगर तथा बाद में आलमबाजार मठ में स्वामी प्रेमानन्द अन्य गुरुभाईयों के साथ कठोर तपस्या तथा श्रीरामकृष्ण के स्मरण-मनन में मग्न हो गये। आलमबाजार में वे जिस प्रकार रामकृष्णमय होकर रहा करते थे, उसका थोड़ासा आभास स्वामी तुरीयानन्द द्वारा उनको लिखे एक पत्र (दिनांक २०-११-१९१५ ई.) में मिलता है – "तुममें प्रभु को छोड़ और किसी चीज के लिए तो स्थान है ही नहीं। मठ की एक दिन की बात स्मरण हो आती है। उन दिनों मठ आलमबाजार में था। तुम उस दिन वार्तालाप करते हुए दिखाई देनेवाले सभी पदार्थों पर से प्रभु की ही स्मृति जगाने लगे। उस दिन मैंने देखा – 'जहाँ जहाँ दृष्टि जाए, वहाँ वहाँ कृष्ण का स्फुरण हो' यह वचन अक्षरशः सत्य हुआ था। ऐसी कोई वस्तु तुम्हें दिखी ही नहीं, जिसने तुम्हें प्रभु की याद न दिलायी हो! पता नहीं तुम्हें स्मरण है या नहीं, पर मेरे हृदय में तो वह चिरकाल के लिए दृढ़ रूप से अंकित हो चुकी है। उस दिन मैंने समझ लिया था कि इसी को तल्लीन (डाइल्यूट) हो जाना कहते हैं।" वराहनगर की और एक दिव्य भावधारा की झलक स्वामी प्रेमानन्द के एक पत्र में मिलती है। उन्होंने लिखा है – "एक समय था जब हम वराहनगर मठ में एक दूसरे के केवल गुण ही देखा करते थे – हमें किसी के दोष नहीं दिखाई देते थे।" जिनका मन अनन्तकल्याण के आगार श्रीभगवान् में सतत लीन रहता है, उनके द्वारा ऐसा होना स्वाभाविक ही है – जो भगवद्-गुणास्वादन में मग्न हैं, उनके पास दोषदर्शन का समय कहाँ?

१८८७ ई. में ठाकुर के जन्मोत्सव के बाद स्वामी प्रेमानन्द, सारदानन्द और अभेदानन्द पैदल पुरीधाम गये। वहाँ पर वे लोग एमार मठ में रहकर जगन्नाथजी के प्रसाद पर जीवनयापन करते थे। उसी समय स्वामी प्रेमानन्द को टायफायड हुआ, परन्तु गुरुभाइयों की विशेष देखभाल के फलस्वरूप वे शीघ्र ही निरोग हो गये और भुवनेश्वर होते हुए छह महीने बाद मठ लौट आये। इन दिनों जगन्नाथ क्षेत्र के अतिरिक्त, वे अन्य तीर्थों को भी गये थे, परन्तु उसका ठीक ठीक तथा विस्तृत विवरण हमें प्राप्त नहीं है। जितना उपलब्ध है उससे पता चलता है कि १८९० ई. में किसी समय वे काशी में थे। स्वामीजी उन दिनों गाजीपुर में निवास कर रहे थे। उसी समय स्वामीजी को लौटा लाने के उद्देश्य से प्रेमानन्द एक बार गाजीपुर गये थे,

परन्तु उन्हें निराश होकर अकेले ही लौट आना पड़ा। काशी में रहते समय उन्होंने स्वनामधन्य जीवन्मुक्त पुरुष त्रैलंग स्वामी के दर्शन किये तथा भास्करानन्द स्वामीजी से भी साक्षात्कार किया था। फिर १८९५ ई. में उत्तर भारत के तीर्थादि के दर्शन करते हुए वे वृन्दावन पहुँचे और वहाँ 'कालाबाबू के कुंज' में कुछ दिन ठहरे। यहाँ पर वे दिनभर अपने ही भाव में तन्मय रहा करते तथा अपराह्न में देवदर्शन को जाते थे। कुछ दिन बाद ब्रह्मचारी कालीकृष्ण उनसे आ मिले। तदुपरान्त झूला-उत्सव के समय वे दोनों भक्तमाल नामक एक वैष्णव साधु के साथ व्रजमण्डल की परिक्रमा को निकले। रास्ता कण्टकाकीर्ण था, इसलिए भक्तमाल ने पादुका खरीद लेने को कहा; परन्तु बाबूराम महाराज व्रजभूमि में पादुका पहनने के विरोधी थे, अतः नंगे पाँव ही चले। इस भ्रमणकाल में सामान्यतः भक्तमाल ही उनके लिए भी माधुकरी ला दिया करते थे। कुछ दिन वे राधारानी के जन्मस्थान बरसाना में रहे। वहाँ की व्रज-नारियों को प्रेमानन्दजी गोपिका-ज्ञान से भूमिष्ठ हो प्रणाम किया करते थे। बरसाने में डेढ़ महीने तथा अन्यान्य स्थानों में और कुछ दिन बिताकर वे पुनः वृन्दावन लौटे। इसके कुछ समय बाद कालीकृष्ण बीमार पड़ गये। प्रेमानन्द ने उन्हें चिकित्सार्थ इटावा में अपने गुरुभाइ हरिप्रसन्न (स्वामी विज्ञानानन्द) के पास सावधानीपूर्वक भेज दिया और स्वयं भी इटावा में कुछ दिन बिता आये।

इसी बीच संवाद मिला था कि आचार्य विवेकानन्द भारतवर्ष लौट रहे हैं। यद्यपि प्रेमानन्द और कालीकृष्ण का मन एकाएक तपस्या छोड़कर वृन्दावन से चले आने का नहीं था, तथापि स्वदेश लौट रहे स्वामीजी के प्रबलतर आकर्षण के फलस्वरूप १८९६ ई. के अन्त में वे लोग कलकत्ते की ओर चले। वर्धमान पहुँचकर मातृभक्त प्रेमानन्द का मन श्रीमाताजी के दर्शन करने को व्याकुल हुआ। अतः दोनों जयरामवाटी आये और वहाँ लगभग एक पक्ष तक रहे। एक दिन गाँव में भ्रमण करते समय एक तालाब मे ताजे खिले कमल देखकर प्रेमानन्द के मन में उन्हें माँ के चरणों में अर्पित करने की अदम्य आकांक्षा हुई, और उन्हें लाने के लिए वे स्वयं ही जल में उतर पड़े, क्योंकि साथ के ब्रह्मचारी तैरना नहीं जानते थे। मन की आकांक्षा के अनुरूप कमल संग्रह करके जब वे किनारे पर आये, तो दोनों ने विस्मयपूर्वक देखा कि उनके सारे शरीर पर बीस-तीस जोंकें चिपकी हुई थीं। काफी प्रयास के बाद उन्हें छुड़ाया गया पर उनका सारा अंग खून से लथपथ हो गया। उनकी यह हालत देखकर माताजी अत्यन्त विचलित हुईं और भविष्य में ऐसा फिर कभी न करना कहकर उन्हें सावधान कर दिया। जयरामवाटी से चलकर तारकेश्वर-दर्शन करते हुए वे लोग आँटपुर पहुँचे। वहाँ दो-तीन दिन बिताने के बाद आलमबाजार पहुँचने पर उन्होंने देखा कि स्वामीजी वहाँ चार-पाँच दिन पहले ही आ चुके हैं।

उन्हीं दिनों की एक घटना से गुरुभाइयों के पारस्परिक प्रेम-सम्बन्ध की प्रगाढ़ता

का कुछ आभास मिलता है। उस समय स्वामी विवेकानन्द ने मठ में नियम बनाया था कि जो प्रात:काल निर्धारित समय पर नहीं उठेगा, उसे उस दिन भिक्षा माँगकर उदरपूर्ति करनी होगी। एक दिन बाबूराम महाराज को उठने में देरी हुई। स्वामीजी ने आदेश दिया, "जा, उसके कान के पास घण्टी बजा आ।" ऐसा होने पर बाबूराम महाराज उठे और स्थिति समझकर अपने अपराध की सजा लेने स्वामीजी के पास जाकर कहा, "आज उठ न सका। मैं समझता हूँ कि मेरे कारण सभी को असुविधा हुई है। पर भाई, तुमने तो नियम बनाया है कि जो न उठ सकेगा उसे सजा मिलेगी – अब मुझे सजा दो।" सुनते ही स्वामीजी गम्भीर होकर बोले, "तुझे मैं सजा दूँगा ऐसी बात तू कैसे सोच सका बाबूराम?" इसके साथ ही स्वामीजी के नेत्र आँसुओं से भीग गये तथा उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया। बाबूराम की भी हालत वैसी ही थी। दोनों की भावविह्वलता देखकर स्वामी ब्रह्मानन्द ने मध्यस्थता करते हुए कहा, "सजा का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु नियम के अनुसार भिक्षा करनी होगी।" तब बाबूराम महाराज माधुकरी करने चले। इस घटना के द्वारा यही प्रमाणित होता है कि जहाँ व्यक्तिगत स्वाधीनता और संघनिष्ठा के बीच संघर्ष हो, वहाँ प्रेम ही समस्या का समाधान करने में सक्षम है।

रामकृष्ण-मठ के प्रधान केन्द्र बेलुड़ का मठजीवन उन दिनों स्वामी प्रेमानन्द को केन्द्र बनाकर ही परिचालित होता था और ऐसा कहने पर अत्युक्ति न होगी कि वह प्रभाव परम्पराक्रम से अब भी संघ के सभी स्तरों में सैकड़ों धाराओं में प्रवाहित हो रहा है। यह सत्य है कि अध्यात्म के क्षेत्र में स्वामी ब्रह्मानन्द आदि श्रीरामकृष्णपार्षदों के आदर्श भी नवागतों में जीवनप्रेरणा जगाते तथा उनका आचरण एवं कार्यकलाप उनके सम्मुख इस नवपथ पर चलने के रहस्यों को प्रकट करते, परन्तु मठवासियों के दैनन्दिन जीवन के प्रत्येक पग के साथ स्वामी प्रेमानन्द का ही निर्देश तथा प्रेममय आकर्षण युक्त रहता था। नवागतगण कभी उनके प्रेम से विगलित होकर कर्तव्यपालन में तत्पर होते, तो कभी उनका तिरस्कार अपनी इच्छा से चुने इस नवजीवन के उत्तरदायित्व के प्रति उन्हें सचेत करता, फिर कभी उनसे आध्यात्मिक आलोक पाकर वे लोग अचानक ही जगदतीत सत्ता की झलक पाकर आनन्दमग्न हो उठते। इसका हिसाब कौन रखे कि उनकी कृपा से कितने दुर्जन साधु और कितने पापी-तापी धार्मिक हुए हैं, तथा कितने मायामुग्ध जीवों को धर्मराज्य में प्रवेश का अधिकार मिला है। हम लोग तो सामान्य धरातल से एवं सुपरिचित दैनन्दिन घटनाओं के द्वारा केवल थोड़ा दिग्दर्शन कर सकेंगे।

बरसात का मौसम, श्रावण या भाद्रपद मास रहा होगा। बेलुड़ मठ के विस्तृत मैदान में कटीले तथा जंगली पौधे उग आये हैं। स्वामी प्रेमानन्द कुछ नवागत ब्रह्मचारियों को इन्हें उखाड़ने के कार्य में लगाकर किसी कार्यवश अन्यत्र चले गये।

काफी देर बाद लौटने पर उन्होंने देखा कि प्रांगण का पर्याप्त भाग स्वच्छ हो चुका है। इस पर उनके आनन्द की सीमा न रही। परन्तु निकट जाने पर पता लगा कि उन पौधों को उखाड़ा नहीं गया है बल्कि छुरी से काटकर मैदान को आसानी से साफ कर लिया गया है। देखते ही उनका सहास्य मुखमण्डल गम्भीर हो उठा! यह क्या? दो दिन बाद ही तो ये फिर पनपने लगेंगे। कुछ नाराज से होकर उन्होंने पूछा, "छुरी से क्यों काटा?" "जड़ से उखाड़ना बड़े झंझट का काम है, इसीलिए छुरी से काट दिया।" स्वामी प्रेमानन्द गम्भीरतापूर्वक बोले, "झंझट! मैंने तो सोचा था कि तुम लोग ठाकुर का काम आनन्दपूर्वक कर रहे हो। यदि यह झंझट मालूम होता हो तो मैं यह कार्य करने को नहीं कहता। मुझसे पूछे बिना छुरी से काटना बड़ा ही अनुचित हैं, क्योंकि अब पौधों की जड़ों को उखाड़ना आसान न होगा।" थोड़ी दूरी पर एक ब्रह्मचारी को धीर-स्थिर भाव से जड़समेत पौधे निकालते देखकर वे बोले, "वह देखो, तुम्हीं लोगों में से एक कितनी अच्छी तरह काम कर रहा है – तुम लोगों की तरह बुद्धि लगाकर छुरी से नहीं काट रहा है।" थोड़ा मौन रहकर फिर कहा, "देखो बाबा! एक बात कहता हूँ। भविष्य में तुम लोग बहुत बड़े बड़े कार्य करोगे, परन्तु जी चुराने की बुरी आदत यदि एक बार जीवन के स्तरों में प्रवेश कर जाए, तो फिर रक्षा नहीं। मैदान से घास निकालने की इस साधारण सी बात के बारे में मैं नहीं कहता। दैनन्दिन जीवन की सारी छोटी-मोटी बातों में जी चुराने की यह आदत दृढमूल हो जाती है तथा जीवन विषमय हो जाता है। अत: मेरा अनुरोध है कि ऐसा कभी न करना।"

प्रेमानन्द जानते थे कि मनोराज्य की चिकित्सा कोरे व्याख्यान से नहीं होती, सिर्फ उपदेश देने से काम नहीं बनता – 'स्वयं धर्म का आचरण करके जीवों को सिखलाए।' अत: अन्तिम दिन तक वे सर्वदा कर्म में व्यस्त रहते थे और कहते थे – "मुख बन्द रहे, कार्य ही बोले।" ब्रह्मचारियों के साथ काम करते हुए वे कहते थे, "मैं स्वयं भी तो तुम लोगों के साथ उपले पाथ रहा हूँ। सिर्फ भक्तों को चरणधूलि दे-देकर क्या मैं अपना परलोक बिगाड़ूँगा? इसलिए गोबर भी उठाता हूँ, उपले भी पाथता हूँ, गोसेवा भी करता हूँ, फिर ठाकुर-पूजा भी करता हूँ।" इन कुछ वाक्यों में बाबूराम महाराज के सर्वांगीण जीवन का एक मनोरम चित्र प्रकट हो उठा है। स्वामीजी का निर्देश था कि 'जूते की सिलाई से लेकर चण्डीपाठ तक' – सारा कार्य करना होगा। बाबूराम महाराज भी कहते थे, "इन्हें सभी विषयों की शिक्षा लेनी होगी – सब्जी काटना, रसोई पकाना, मन्दिर के कार्य, पूजा, हिसाब रखना, व्याख्यान देना इत्यादि। सभी कार्यों में कुशल होना आवश्यक है। इन लोगों से यहाँ वही सब करवा लेता हूँ और कितना बुरा-भला भी कहता हूँ – उन्हीं की भलाई के लिए। मेरे मन में किसी के प्रति किंचित् भी क्रोध नहीं है। इनसे कितना प्रेम करता हूँ!"

ब्रह्मचारियों की ओर देखते हुए वे कहते थे, "तुम लोगों को डाँटता-फटकारता हूँ, इसके लिए बुरा न मानना।" वे लोग बुरा नहीं मानते थे, क्योंकि थोड़े ही दिनों के संगलाभ के फलस्वरूप उन्हें प्रेमानन्द की क्षणिक सख्ती के पीछे एक चिर-स्नेहपूर्ण हृदय दिखाई देता था, और वे समझ जाते थे कि वही उनका वास्तविक स्वरूप है।

साधु-ब्रह्मचारियों को वे कामकाज सिखाया करते, तथा आवश्यकतानुसार डाँटते भी थे। फिर सभी को साथ लेकर निरन्तर श्रीरामकृष्णप्रसंग करते तथा सभी की आध्यात्मिक प्रगति के प्रति तीक्ष्ण दृष्टि रखते थे। शास्त्र-अध्ययन न करने पर वे बड़े नाराज होते थे। एक बार मेदिनीपुर से लौटने पर किसी ब्रह्मचारी को उद्यान के कार्य में अत्यधिक लिप्त देखकर उन्होंने कहा, "पढ़ना-लिखना भी कुछ हो रहा है, या सिर्फ कुलीगिरी ही चल रही है?" ब्रह्मचारी बोले, "जी हाँ, दादा पढ़ते हैं, हम लोग सुनते हैं।" "मूल-शास्त्र आदि कुछ पढ़ते हो?" "संस्कृत भलीभाँति नहीं जानता।" स्वामी धीरानन्द वहाँ उपस्थित थे; वे ब्रह्मचारी का पक्ष लेते हुए विनोदपूर्वक बोले, "पढ़ाई के डर से तो घर छोड़कर भाग आया, फिर यहाँ भी पढ़ना-लिखना?" उस विनोद को अनसुना करके स्वामी प्रेमानन्द एक अंग्रेजी ग्रन्थ का नाम लेकर कहने लगे, "तीन महीने के अन्दर वह ग्रन्थ अथ से इति तक पूरा हो जाना चाहिए – नहीं तो दफ्तर से चार पैसे लेकर गंगा पार हो जाना (अर्थात् कलकत्ते जाने का खर्च लेकर मठ से चले जाना)।" साथ ही उन्होंने यह भी स्मरण दिला दिया कि यह वैष्णव बाबाजी लोगों का अखाड़ा नहीं है – स्वामीजी ने इसके लिए बेलुड़ मठ का निर्माण नहीं किया है। विवेकानन्द ध्यान, ज्ञान, भक्ति तथा सेवा के रूप में आध्यात्मिक शक्ति की सर्वांगीण अभिव्यक्ति चाहते थे। इस नवीन भावधारा का मर्म न समझकर बेलुड़ मठ में एक नवागत ब्रह्मचारी ने पारम्परिक संस्कारवश जब प्रश्न किया, "ध्यान कैसे करूँगा?" तो सहज रूप से उत्तर न देकर मूल तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए प्रेमानन्दजी कह उठे, "वह सब छोड़कर अब स्वामीजी का ध्यान करो – इससे उनकी सत्ता पाकर उनकी सेवा का ठीक ठीक भाव तुम्हारे भीतर उपजेगा और फिर उन्हीं की कृपा से तुम ठाकुर को ठीक ठीक समझ सकोगे।"

कभी कभी स्वामी प्रेमानन्द और ब्रह्मानन्द के बीच ब्रह्मचारियों का विषय लेकर जो आमोद-प्रमोद होता, उसके माध्यम से नवागत साधकों को इस नवीन पथ की जटिलताओं का भलीभाँति परिचय प्राप्त हो जाता था। एक दिन प्रातःकाल स्वामी ब्रह्मानन्द के कमरे में खूब धर्मचर्चा चल रही थी। समय हो चुका है फिर भी साधुब्रह्मचारीगण अपने दैनिक कार्य में नहीं लग रहे हैं। नीचे से प्रेमानन्द ने पुकार लगायी, "अरे भक्तों, कौन कहाँ हो – नीचे आओ। अभी तक ठाकुर के भोग की व्यवस्था नहीं हुई।" महाराज ने तुरन्त सभी को नीचे जाने का आदेश देते हुए

विनोदपूर्ण ढंग से कहा, "जाकर उनसे कहो कि महाराज आप मुक्ति दे दीजिए न, तब तो फिर साधन-भजन का झंझट नहीं रहेगा – आप तो इच्छामात्र से ही मुक्ति दे सकते हैं।" बाबूराम महाराज से यह कहने पर वे बोले, "अच्छा, तो फिर तुम लोग समाधि का अभ्यास करो, मुझे कोई आपत्ति नहीं – मैं स्वयं ही सब कर लूँगा। परन्तु समाधि के नाम पर यदि तुम मन के अन्दर हाट-बाजार लगा बैठोगे, तो मैं तुम्हारे कान खींचकर काम में लगाऊँगा।"

वास्तव में प्रेमानन्दजी के साथ जो काम करना था उसे काम नहीं कहा जा सकता – वह साधना का ही एक अन्य रूप था, जिसे गीता में कहा है – "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।" सब्जी काटने बैठकर वे निरन्तर धर्मचर्चा करते रहते, चारा काटते समय सब को समझा देते कि यह ठाकुर का ही काम है – ऐसा ही सभी विषयों में था। पग पग पर सब के मन में यही भाव जागृत रहता था कि सम्पूर्ण मठ ठाकुर का ही है, वे सशरीर इसमें सर्वत्र विचरण कर रहे हैं, कहीं पर धूल-कचरा पड़ा रहने पर उन्हें कष्ट होगा तथा इससे उनके प्रति अश्रद्धा व्यक्त होगी। उद्यान में खिले पुष्पों को तोड़कर ठाकुरसेवा में न लगाकर निजी सेवा में लगाने पर अपराध होगा – क्योंकि यह उद्यान उन्हीं का है! उद्यान में खिले पुष्पसमूह विराट् की पूजा में ही तो समर्पित हैं। रसोई ठीक ढंग से न पकायी जाने पर ठाकुर की अवज्ञा होती है। धन का व्यर्थ व्यय होने पर ठाकुर रुष्ट होते हैं – इत्यादि। व्यवस्था तथा शारीरिक परिश्रम के इन समस्त कार्यों के माध्यम से प्रेमानन्द का शुद्ध प्रेम प्रगट हुआ करता था। स्वामी तुरीयानन्द ने एक बार उन्हें सत्य ही लिखा था – "तुम लोगों का जहाँ कहीं शुभागमन होगा, वहीं पर आनन्द का स्रोत बहने लगेगा –

नित्योत्सवो भवेत्तेषां नित्यश्रीर्नित्यमंगलम्।
येषां हृदिस्थों भगवान् मंगलायतनो हरिः।।*

रात में कोई ब्रह्मचारी मसहरी लगाना भूल गये हैं, प्रेमानन्द उनकी मसहरी लगा दे रहे हैं; किसी ने मान किया है, प्रेमानन्द दूध की कटोरी लिए उसके पीछे घूम रहे हैं। ऐसी घटनाएँ नित्य ही हुआ करती थीं।

यह सोचकर कि प्रेमाधार प्रेमानन्द के सर्वग्रासी प्रेम के पूर्ण प्रवाह में सब कुछ बह न जाए स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें सावधान कर दिया था, "तू मन्त्रदीक्षा मत देना नहीं तो तेरे और राखाल के चेलों के बीच झगड़ा होगा।" बाबूराम महाराज ने इस आदेश का अक्षरशः पालन किया। उनके प्रेम से आकृष्ट असंख्य भक्त आया करते और उनमें से अधिकांश उनसे दीक्षा के लिए प्रार्थना भी करते थे, परन्तु वे

* मंगलमय प्रभु जिनके हृदय में विराजित हैं, उनके जीवन में नित्य उत्सव, नित्य समृद्धि और नित्य मंगल होता रहता है। (पाण्डव गीता)

उन लोगों को सुविधानुसार माताजी के चरणों में अथवा संघनेता स्वामी ब्रह्मानन्दजी के समीप भेज देते थे।

परन्तु स्वामीजी की यह चेतावनी सम्भवतः अनावश्यक थी, क्योंकि जगन्माता के अदृश्य संकेतानुसार, प्रेमानन्द की प्रेमधारा विचारहीन भावुकता के निरर्थक आप्लावन से दोनों तटों को बहाकर स्वयं को विलीन तथा विस्तीर्ण तटभूमि को अस्त-व्यस्त न करती हुई युगप्रयोजन के अनुकूल निर्दिष्ट पथ पर ही प्रवाहित हो रही थी। हम पहले उल्लेख कर आये हैं कि अपने स्नेहास्पद बाबूराम के तीव्र अनुरोध पर जब ठाकुर ने जगदम्बा से उनके लिए भावसमाधि की याचना की थी, तब उन्हें उत्तर मिला था – "बाबूराम को भाव नहीं, ज्ञान होगा।" और ज्ञान के आवरण में आच्छादित प्रेम लेकर ही बाबूराम महाराज ने इस युग में लीलाविलास किया। यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि भक्त परिवार में भक्ति का संस्कार लेकर जन्मग्रहण करने पर भी, बचपन से ही व्यायाम आदि करने के फलस्वरूप उनका शरीर सुगठित था तथा उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में एक पुरुषोचित दृढ़ता थी। साथ ही उनका सम्पूर्ण जीवन भी कर्मनिष्ठा से पूर्ण था। बेलुड़ मठ में, ब्राह्ममुहूर्त में ही सर्वप्रथम उन्हीं की वाणी कर्णगोचर होकर सब को जगाया करती थी। फिर सारे दिन विविध क्रियाकलाप चला करते थे। पूजा वे अत्यन्त भक्तिपूर्वक किया करते थे, परन्तु मन्दिर में जाते अथवा लौटते समय उनके पदक्षेप में मृदुता के स्थान पर निस्संकोच दृढ़ भाव ही व्यक्त होता था। युग के सुख-दुःख से वे अपरिचित न थे और न उसके प्रति उदासीन ही थे। पराधीन, शोषित भारतवर्ष में सब ओर अहर्निश जो आर्तनाद उठता था, उससे व्यथित होकर इन महापुरुष के मर्मस्थल से प्रार्थना उठती – "हे प्रभो, इस अत्याचार का शीघ्र प्रतिकार करो।" यह विदेशियों के प्रति विद्वेष अथवा राजनीतिक अवस्था की प्रतिक्रिया मात्र नहीं है – यह सर्वभूतों में विराजमान भगवान् की सेवा में अर्पित कोमल प्रेमपूर्ण हृदय का मर्मभेदी गुंजार है। एक तरह का प्रेम होता है जो सर्वत्र सक्रिय होकर सर्वभूतों में अधिष्ठित प्रियतम को प्रसन्न करके सन्तुष्ट होता है, और दूसरे प्रकार का प्रेम है जो निष्क्रिय ध्यान में मग्न रहकर प्रेमास्पद का आलिंगन प्राप्त करने में स्वयं को धन्य मानता है। स्वामी प्रेमानन्द का प्रेम प्रथम श्रेणी में आता है।

विश्वस्त सूत्रों से हम जानते हैं कि स्वामी विवेकानन्द की ग्रन्थावली के मनोयोगपूर्ण गहन अध्ययन के पश्चात् स्वामी प्रेमानन्द में इस सक्रिय पौरुषभाव की पूर्णतम अभिव्यक्ति हुई। सम्भवतः १९१० ई. में जब वे काशीधाम में थे, तब मठ की कर्मव्यस्तता से कुछ मुक्त होने से उन्हें स्वामीजी की वाणी का पूर्णतया चिन्तन-मनन करने का सुयोग मिला था और इस सुयोग का पूर्णरूपेण उपयोग करने के फलस्वरूप उनमें एक नवीन प्रेरणा का संचार हुआ था। इसके बाद से

उनके प्रत्येक कार्य एवं वचन में इस बात का आभास मिलता है। इसी भावधारा की प्रबल अभिव्यक्ति का एक उत्कृष्ट उदाहरण उनके १९१४ ई. के मालदा में दिये हुए व्याख्यान में प्राप्त होता है। स्वामी प्रेमानन्द ने उस व्याख्यान में विवेकानन्द-प्रवर्तित दरिद्रनारायण-सेवा का ही सन्देश दिया था। व्याख्यान जब समाप्त होने जा रहा था तो एक श्रोता बोल उठे, "हम कुछ प्रेम-भक्ति की बातें सुनने आये थे।" बाबूराम महाराज उस पर ध्यान न देते हुए अपना वक्तव्य कहते चले। परन्तु जब उस व्यक्ति ने तीन बार इसी बात को दुहराया तो वक्ता का चेहरा गम्भीर हो उठा। उन्होंने सिंह के समान गरजकर पूछा, "कौन सुनेगा और किससे कहूँ प्रेमभक्ति की बातें? कौन है यहाँ पर प्रेम-भक्ति की बातें सुनने का अधिकारी?" इसके पश्चात् उन्होंने इस सन्दर्भ में एक कहानी सुनायी जिसका आशय इस प्रकार है – एक बार एक फेरीवाला मुहल्ले में घूमते हुए प्रेम बेच रहा था – "प्रेम लो जी, प्रेम!" मूल्य रूप में वह खरीदनेवाले का सिर माँग रहा था। उसे एक भी खरीदार नहीं मिला। कहानी समाप्त कर प्रेमानन्दजी ने गुरुगम्भीर स्वर में पूछा, "आप लोगों में से कोई सिर दे सकेगा? प्रेम-भक्ति आसान बात नहीं है। इस युग में स्वामी विवेकानन्द जो कह गये हैं, वही धर्म है – शिवज्ञान से जीवसेवा।" सभा निःस्तब्ध रह गयी।

प्रेमानन्द का जीवन भावुकतापूर्ण न होने पर भी किसी किसी विशेष अवसर पर वे स्वयं में उन्मत्त हो जाते और दूसरों को भी वैसा ही कर देते थे। वृन्दावन से उनकी लायी हुई माला और तिलक धारण करके एक दिन स्वामी विवेकानन्द बेलुड़ मठ में भावविभोर हो कई घण्टे हरिनाम-संकीर्तन में मस्त रहे थे। महाष्टमी की रात को एक बार मठ में कालीकीर्तन खूब जमा था। आनन्दविभोर बाबूराम महाराज शरत् महाराज के बगल में बैठे हुए थे। भावावेश में अचानक उन्होंने शरत् महाराज को पकड़कर कहा, "भाई, आज तुम्हें गाना होगा। देखते नहीं कितना आनन्द हो रहा है! तुम्हारे गाये बिना आनन्द पूरा नहीं होगा।" शरत् महाराज जितना ही कहते, "बहुत दिनों से अभ्यास नहीं है, अचानक कैसे गाऊँ?" – बाबूराम महाराज का आग्रह उतना ही बढ़ता जाता। अन्त में शरत् महाराज को गाना ही पड़ा और नृत्य में भी भाग लेना पड़ा। दूसरे दिन उन्होंने कहा था, "क्या करूँ? बाबूराम ने इस बुढ़ापे में भी नचाकर ही छोड़ा।" ऐसा था बाबुराम महाराज का युक्तितर्करहित भावावेग। पूर्व बंगाल भ्रमणकाल में वे देवभोग में नाग महाशय का निवासस्थान देखने गये। नारायणगंज में स्वामी ब्रह्मानन्द के साथ पैदल कीर्तनदल के पीछे पीछे चलते हुए वे ज्योंही नाग महाशय के आँगन में पहुँचे, त्योंही भाव के आधिक्य से शरीर से वस्त्र उतारकर वहीं भूमि पर लोटने लगे। तत्पश्चात् उन्होंने कातर स्वर में महाराज से अनुरोध किया, "महाराज, इन लोगों पर थोड़ी कृपा हो।" यह कहते हुए वे उन्हें पकड़कर कीर्तनस्थल पर ले आये। महाराज भी उस प्राणोन्मादक कीर्तन के

साथ हुंकार भरते हुए नृत्य करने को उद्यत हुए, परन्तु भाव के प्राबल्य से अक्षम स्थाणुवत् समाधिमग्न हो गये। पूर्व बंगाल में प्रेमानन्द की अन्य भाव-लीलाओं का विवरण हम बाद में देंगे। यहाँ पर दो-चार अन्य घटनाओं का वर्णन कर लें।

कलकत्ते के एक सम्भ्रान्तवंशीय युवक को बुरे संग में पड़कर गाँजा, भंग आदि सेवन करने की आदत लग गयी। सुशिक्षित परिवार में ऐसा आचरण देखकर सभी लोग मर्माहत हुए, परन्तु बहुत प्रयास करने पर भी कोई उस युवक को रास्ते पर न ला सका। सौभाग्यवश उस युवक के एक सम्बन्धी स्वामी प्रेमानन्द से परिचित थे। एक दिन वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने उनको सब कुछ कह सुनाया और इस विषय में उनकी सहायता की याचना की। प्रेममूर्ति स्वामी प्रेमानन्द ने सब सुन लिया और उस युवक को देखने के लिए एक दिन उसके घर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने विविध विषयों पर वार्तालाप करते हुए उसके साथ आत्मीयता स्थापित कर ली तथा एक दिन उसे मठ आने को आमन्त्रित किया। और सचमुच ही वह प्रेमानन्दजी के आकर्षण के फलस्वरूप मठ में आया और पूरे दिन उनके साथ मठ में रहा। प्रेमानन्दजी के व्यवहार में एक चीज उसे बड़ी ही विस्मयजनक लगी, वह यह कि सभी लोग उसका तिरस्कार करते थे, उसके प्रति घृणा प्रगट करते थे, यहाँ तक कि उससे दूर ही रहना पसन्द करते थे, परन्तु ये एक सर्वत्यागी शुद्धचित्त साधु होते हुए भी उसकी बुरी आदतों का उल्लेख तक न कर, कुछ भी त्यागने का आदेश न देकर केवल एक अत्यन्त लोभनीय उच्च अवस्था का आदर्श उज्ज्वल रूप में उसके सम्मुख रख रहे थे। घृणा के स्थान पर उस युवक को सम्मान मिला। एक ओर तो था उच्छृंखल जीवन और दूसरी ओर था निःस्वार्थ प्रेम – इस प्रेम का आग्रह बड़ा ही प्रबल था। दिन ढलने पर युवक घर लौटा, परन्तु एक अज्ञात आकर्षण शीघ्र ही उसे पुनः बेलुड़ मठ खींच लाया। इतना ही नहीं, उसने सारी बुरी आदतें त्यागकर साधु हो जाने की प्रतिज्ञा की और शीघ्र ही उसे कार्यान्वित भी किया।

हम पहले कह आये हैं कि कर्तव्य के बोध से प्रेमानन्दजी डाँट-फटकार भी किया करते थे, परन्तु ऐसे भी उदाहरण कम नहीं हैं जब नियन्त्रण करने को उन्मुख होकर अचानक ही उनकी दृष्टि बाह्य जगत् को छोड़कर आत्मस्वरूप की ओर ही मुड़ जाती और नियन्त्रण अपने ही ऊपर उतर आता। एक दिन एक ब्रह्मचारी को फटकारते हुए सहसा उनकी दृष्टि शासक-शासित के द्वैतसम्बन्ध के परे अद्वैतभूमि की ओर प्रसारित हो गयी और वे सभी को सुनाते हुए विस्मयपूर्वक कह उठे – "यह भला कैसा प्रेम-आनन्द है बाबा!" साथ ही डाँट-फटकार के स्थान पर मधुर प्रशान्ति विराजने लगी।

जब वे अस्वस्थ होकर वायुपरिवर्तन के लिए देवघर गये, तो वहाँ एक सेवक का आहार पर अत्यधिक लोभ देखकर उन्होंने उसकी तीव्र भर्त्सना की। सेवक मान के कारण दोपहर में भोजन को नहीं आये। बाबूराम महाराज यह सोचकर व्याकुल हो गये कि लड़के को हो क्या गया? उन्होंने फौरन उसे ढूँढ़ निकलवाया और अपने अत्यन्त निकट बैठाकर कहने लगे, "बेटा, मैं वृद्ध हो गया हूँ। रोग से शरीर दुर्बल हो गया है। हर समय मिजाज ठीक नहीं रख पाता। ऐसी हालत में यदि कुछ कह डालता हूँ, तो उसके लिए क्या क्रोध करना चाहिए?" कहते कहते उनकी आँखें गीलीं हो गयी और उस अश्रुधारा में सेवक का मान न जाने कहाँ बह गया।

भक्तसेवा में प्रेमानन्द का प्रेम कोई बाधा नहीं मानता था। मठ में आकर कोई भी प्रसाद पाये बिना नहीं लौट सकता था। एक दिन किसी भक्त को बिना प्रसाद लिए ही लौट जाते देखकर उन्होंने मन्दिर के भण्डारी से इसका कारण पूछा। उन्होंने बताया, "ये थोड़ा ठहरे भी नहीं – भला प्रसाद कैसे देता?" प्रेमानन्द असन्तुष्ट होकर बोले, "फिर भी बुलाकर देना चाहिए था – मठ के भीतर आ पहुँचा था। यदि तुम संसार में रहते तो न तो स्वयं खा पाते और न बच्चों को ही कुछ खिला पाते। यहाँ पर ठाकुर के नाम पर इतना आ रहा है – तो भी हाथ उठाकर दे न सकोगे?"

मठ के रास्ते पर से बाबूराम महाराज को स्वयं ही कटीले पौधे निकालते देखकर एक भक्त ने विस्मयपूर्वक पूछा, "महाराज, यह काम आप क्यों कर रहे हैं?" प्रेमानन्द ने तुरन्त उत्तर दिया, "भक्तगण कष्ट उठाकर आते हैं – उन्हें असुविधा होती है, इसलिए उनके मार्ग से काँटे हटा दे रहा हूँ।" पता नहीं इन मामूली काँटों के साथ वे और कौनसे अज्ञात जगत् के पथ के काँटे हटा दे रहे थे।

एक बार उनके इस अपूर्व प्रेम की प्रसिद्ध साहित्यकार एवं समालोचक सुरेशचन्द्र समाजपति ने भी प्रशंसा की थी। एक दिन भोजन के समय अपने स्वभाव के अनुसार पंगत में घूमते हुए प्रेमानन्द महाराज समाजपतिजी के निकट आये और मुसकाते हुए कहा, "आपका स्वागत-सत्कार करने के लिए उपयुक्त वाक्य, भाषा, भाव मैं कहाँ पाऊँगा? मुझमें रस आदि तो है नहीं! आपकी लेखनी के अग्र में तो रस ही रस भरा है।" समाजपति भला कहाँ हार माननेवाले? उत्तर में कहा, "अपनी बात में आप स्वयं ही फँस गये। माना कि मेरी कलम के अग्र में रस है। परन्तु आपके तो चलने-फिरने में, बातचीत में, कामकाज में, शरीर-प्राण सब में सर्वत्र रस है।" वे और भी बहुत कुछ कहना चाहते थे, परन्तु अपनी प्रशंसा को अवसर न दे प्रेमानन्दजी पीठ फेरकर चल दिये।

उत्सव के दिन मठप्रांगण में उच्च-नीच, धनी-निर्धन – सभी स्तर के नारायण पंगत में भोजनार्थ बैठे थे। खिचड़ी परोसी जा रही थी। तत्त्वावधान में व्यस्त स्वामी प्रेमानन्द ने देखा कि पंगत में दूर एक ओर से बारम्बार 'खिचड़ी दो, खिचड़ी दो' की आवाज आ रही है। उन्होंने तुरन्त ही पहुँचकर परोसनेवाले से पूछा, "क्या तुमने पहले कभी परोसने का काम नहीं किया है?" उत्तर मिला, "मैं तो बार बार दे रहा

हूँ, तो भी नहीं हो रहा है। ये लोग सिर्फ 'दो, दो' कहते हुए शोर मचा रहे हैं।'' प्रेमानन्द ने देखा कि उस पंक्ति में बैठे प्रायः सभी लोग निम्न तथा निर्धन वर्ग के हैं जिन्हें कुछ अधिक खाने की आदत है। सहानुभूति से प्रेरित हो वे आवेगपूर्वक बोले, ''क्या हम लोगों के पेट के हिसाब हो सकता है? पता नहीं जीवन में कितने दिन ये लोग भरपेट भोजन पाते हैं! इनके पेट में दिनरात अग्नि जल रही है। जाओ, जाओ, इनमें से हरएक के पत्तल में पूरी बाल्टी उँडेल दो। ये ठाकुर का प्रसाद भरपेट पा लें।'' कहते कहते उनका स्वर अवरुद्ध हो गया, नेत्र की कोरों से अश्रु टपकने लगे – स्वयं को सँभाल न पाकर वे वहाँ से हट गये।

मठ में आनेवालों की सेवा के लिए प्रेमानन्द के हृदय का द्वार तथा मन्दिर-भण्डार के पट सर्वदा खुले रहते थे। ऐसी बात नहीं कि सभी लोग भक्त के ही रूप में आते हों – कोई मठ की खुली हवा सेवन करने आता तो कोई उत्सुकता-निवारणार्थ। परन्तु चाहे कोई किसी भी भाव से क्यों न आये, प्रेमानन्द के मधुर वार्तालाप तथा व्यवहार से मुग्ध होकर वह बारम्बार आने लगता। कई बार तो ऐसा भी होता कि मठ के प्रसाद-वितरण का समय बीत जाने के बाद कोई आ पहुँचता। ढलती उम्र के प्रेमानन्दजी किसी से कुछ न कहकर स्वयं ही आगन्तुकों के भोजन की व्यवस्था करने रसोईघर की ओर जाने लगते। उन्हें देखकर सहायतार्थ किसी के आगे बढ़ आने पर वे आशीर्वाद देते हुए कहते, ''देखो, गृहस्थों को बहुत कामकाज करने पड़ते हैं; उनके लिए हमेशा नियमानुसार आना कैसे सम्भव हैं? हम लोग उनके लिए थोड़ीसी सेवा के अतिरिक्त भला और क्या कर सकते हैं? इससे हम लोगों को थोड़ा शारीरिक कष्ट होता होगा। पर ठाकुर की कृपा से यहाँ किसी चीज का अभाव तो नहीं है। यह सब उनकी सन्तानों को देकर क्या हम धन्य न होंगे?'' रोगशय्या पर पड़े हुए भी वे भक्तसेवा के लिए व्याकुल हो उठते थे। बीमारी बढ़ने की आशंका प्रगट करते हुए कोई यदि उन्हें सावधान करने जाता तो वे कहते, ''यह मेरा स्वभाव ही है — भक्तों की सेवा और ईश्वर की पूजा एक है। देहत्याग के दो दिन पूर्व मठ के एक सेवक को बुलाकर वे बड़े ही आकुल स्वर में बोले, ''तुम एक काम कर सकोगे?'' सेवक ने उत्सुक होकर पूछा, ''कहिए महाराज, क्या करना होगा?'' प्रेमानन्द ने कहा, ''भक्तों की सेवा कर सकोगे?'' उत्तर मिला, ''खूब कर सकूँगा।'' प्रेमानन्द पुनः आवेगपूर्वक बोले, ''पर यह बात भूल मत जाना।'' उनका दृढ़ विश्वास था कि ठाकुर का प्रसाद लेने से भक्तों का परम कल्याण होगा। वे और भी कहा करते थे, ''एक बार जब ये इस पुण्यस्थान में, ठाकुर के स्थान में आये हैं, तो कुछ अच्छी बातें भी सुन जाएँ।'' वस्तुतः बाबूराम महाराज के पास जो लोग आते, वे तन-मन की प्यास मिटाकर ही घर लौटते और उसी अमृत के प्रलोभन में उनके पग पुनः मठ की ओर चल पड़ते। वयस्क भक्तों के अतिरिक्त कालेज के छात्र भी उनके पास आया करते थे वे आनन्दपूर्वक अपना समय एवं ज्ञान उन लोगों की सेवा में लगाया करते थे। इस प्रकार कितने ही युवकों ने उनकी प्रेरणा से संन्यास लेकर उन्हीं के द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलने का संकल्प किया था।

प्रेमानन्द को कुछ और भी अधिक जानने के लिए अब उनके चरित्र के कुछ अन्य पहलुओं का अध्ययन करना असंगत न होगा। श्रीरामकृष्णदेव के उदार भाव तथा बाबूराम महाराज के पूर्व संस्कार के संघर्ष की कुछ घटनाएँ कई बार एक अपूर्व आलोक बिखेरती हुई सब को विस्मित कर देती थीं। पुरी निवासकाल में एक दिन बाबूराम महाराज ने देखा कि मन्दिर के सामने ही ईसाई धर्मप्रचारकगण ईसा की महिमा का प्रचार कर रहे हैं। इस पर उनका जातिगत संस्कार अचानक क्षुब्ध होकर बाधा देने को अग्रसर हुआ। वे श्रोतामण्डली के समीप खड़े होकर जोर से पुकार उठे – ''हरि बोल, हरि बोल, हरि बोल!'' साथ ही सैकड़ों नर-नारियों के कण्ठ से निनादित हो उठा – ''हरि बोल, हरि बोल।'' सभा भंग हो गयी। पण्डों ने बाबूराम महाराज को धन्यवाद देते हुए कहा, ''हम लोग डर के मारे इतने दिन कुछ भी नहीं कर पा रहे थे।'' परन्तु यह घटना प्रेमानन्द के हृदय में विजयोल्लास के बदले तीव्र विषाद ले आयी। रात को उन्होंने स्वप्न देखा, जिसमें दर्शन देकर ठाकुर कह रहे थे – ''क्यों रे, तूने उनकी सभा क्यों भंग कर दी? वे लोग तो मेरे ही नाम, मेरी ही वाणी का प्रचार कर रहे थे। कल सबेरे उठते ही उनके पास जाकर क्षमा माँगना।'' प्रातःकाल उठते ही बाबूराम व्यग्र होकर उन इसाई धर्मप्रचारकों की खोज में निकल पड़े और बड़ी मुश्किल से उनके निवासस्थान का पता लगाकर उनसे क्षमा माँगी।

प्रेमानन्द का वैराग्य भी विलक्षण था। उनके नित्य उपयोग की वस्तुओं में थीं – दो धोतियाँ, दो कुरते, एक उत्तरीय, एक जोड़ी चप्पल, एक लाठी और एक छाता। इनके अतिरिक्त शीतकाल में वे एक दूसरी चादर तथा रूई भरे एक कुरते का उपयोग करते थे। इन थोड़ीसी चीजों में से दान भी चलता रहता था। जब वे बीमार होकर देवघर में निवास कर रहे थे, तो एक नाई चोरी के अपराध में पकड़ा गया। स्वामी प्रेमानन्द की धारणा थी – अभाव के कारण मनुष्य का स्वभाव बिगड़ जाता है, अतः उसे दण्ड न देकर उसका अभाव दूर करना ही सक्षम व्यक्ति का कर्तव्य है। इस कारण उन्होंने पकड़े गये व्यक्ति को सजा के बदले एक रुपया देने को कहा। इतना ही नहीं, सेवक के चले जाने पर उन्होंने उसे अपना गमछा भी दे दिया।

माताजी के प्रति असीम श्रद्धा-भक्ति स्वामी प्रेमानन्द के व्यक्तित्व की एक अन्य विशेषता थी। माँ की अनुमति लिए बिना वे कोई भी विशेष कार्य हाथ में नहीं लेते थे और माँ के आदेश पर अपना मत त्यागने को वे सर्वदा प्रस्तुत रहते थे। एक पत्र में वे माँ के बारे में लिखते हैं – ''श्रीमाताजी मानवदेहधारिणी होने पर भी उनका वास्तव में अपार्थिव भागवती तनु है; जीव के कल्याणार्थ मनुष्य की भाँति लीला कर

रही हैं।'' और भी कहा करते थे – ''माताजी को देख रहा हूँ कि वे ठाकुर से भी बड़ी आधार हैं – वे शक्तिस्वरूपिणी जो हैं! उनमें (भाव) छिपाने की कितनी क्षमता है! ठाकुर प्रयास करके भी नहीं छिपा पाते थे, बाहर निकल ही पड़ता था। माताजी को भावसमाधि होती है, पर वे किसी को पता भी लगने देती हैं?'' १९१४ ई. मई में स्वामी प्रेमानन्द को मालदा ले जाने के लिए एक भक्त मठ में आये। उनके आग्रह पर वे जाने को राजी हो गये, परन्तु कहा कि उनकी व्यक्तिगत सम्मति होने पर भी जाने के पूर्व माताजी की अनुमति लेनी होगी। तदनुसार उन भक्त के साथ प्रेमानन्द कलकत्ते में 'उद्बोधन' कार्यालय में गये और माँ के चरणों में सब कुछ निवेदित किया। स्नेहमयी माँ ने जब सुना कि बाबूराम का स्वास्थ्य पूरी तौर से ठीक नहीं है, उत्सवस्थान को जाने का रास्ता बड़ा लम्बा तथा दुर्गम है, और उत्सव में अनियमितता आदि भी हो सकती है, तो वे बोलीं, ''गरमी के मौसम में इतनी दूर न जाना ही अच्छा है।'' बाबूराम ने नतमस्तक होकर आदेश स्वीकार कर लिया। परन्तु भक्त तो यह सुनकर मानो आकाश से गिर पड़े – यात्रा की सारी व्यवस्था पूरी हो चुकी है, और अब ऐसी बात! उन्होंने तुरन्त माँ के सम्मुख उपस्थित होकर बताया कि मालदा बहुत दूर नहीं है, आने-जाने तथा ठहरने की भी अच्छी व्यवस्था की जाएगी, और विशेषकर प्रेमानन्द महाराज के न जाने पर भक्तों के मन पर भारी आघात पहुँचेगा। सब कुछ सुनने के उपरान्त माँ ने बाबूराम को पुनः बुलवाकर कहा, ''क्यों बाबूराम, ये इतना सब कह रहे हैं। फिर तुम जाओगे क्या?'' मातृभक्त ने उत्तर दिया, ''मैं क्या जानूँ माँ? – आपका जो आदेश होगा, वही करूँगा।'' अन्त में माँ बोलीं, ''तो फिर जाओ, एक बार हो आओ; पर अधिक दिन मत ठहरना।'' जाने की बात तुरन्त ही निश्चित हो गयी।

यह आत्मसमर्पण का भाव उनके जीवन में अन्य रूप में भी प्रकट होता है। ठाकुर के निर्देशानुसार ही वे मठ में निवास करते थे तथा उनके आदेश के बिना कुछ भी नहीं करते थे। वह आदेश केवल हृदय में सूक्ष्य अनुभव के रूप में ही नहीं मिलता था, वरन् विशेष अवसरों पर ठाकुर निर्देश देने के लिए स्थूलरूप धारण कर सामने प्रकट हुआ करते थे। एक बार मठ की व्यवस्थापना के बारे में गुरुभाइयों के साथ मतभेद होने के कारण उन्होंने अन्यत्र चले जाने का संकल्प किया और मठ के फाटक की ओर चल पड़े – साथ में केवल शरीर पर के वस्त्र, एक गमछा तथा एक और कपड़ा था। फाटक पार होकर उन्होंने ज्योंही कदम बढ़ाया त्योंही देखा कि ठाकुर उनके कन्धे पर का गमछा खींचते हुए कह रहे हैं, ''कहाँ चले चाँद? मुझे छोड़कर कहाँ जाओगे?'' स्वामी प्रेमानन्द के अनिश्चित पथ की यात्रा वहीं समाप्त हुई।

यद्यपि प्रेमानन्दजी ने अपने जीवन का अधिकांश भाग मठ में ही बिताया, फिर भी तीर्थदर्शन की साधुसुलभ इच्छा से वे बीच बीच में बाहर भी जाया करते थे, जिसका आभास हम पहले ही दे आये हैं। आचार्य विवेकानन्द के देहत्याग के पश्चात् कुछ वर्ष मठ में बिताने के पश्चात् १९०६ ई. में वे पुरीधाम गये। १९१० ई. में उन्होंने स्वामी तुरीयानन्द, शिवानन्द तथा कुछ और साधु-ब्रह्मचारियों के साथ अमरनाथ की यात्रा की। बेलुड़ मठ से रावलपिण्डी होते हुए वे लोग काश्मीर पहुँचे। फिर अमरनाथ-दर्शन के पश्चात् तीन महीने काश्मीर में बिताकर उन्होंने श्रीनगर आदि दर्शनीय स्थान देखे। काश्मीर से स्वामी तुरीयानन्द शिमला गये, और स्वामी प्रेमानन्द तथा शिवानन्द चौदह-पन्द्रह दिन कनखल में बिताकर सितम्बर के अन्त में काशी पहुँचे। वहाँ कुछ दिन व्यतीत करने के बाद वे बेलुड़ लौट आये। १९१४ ई. में प्रेमानन्दजी को पुनः काशीधाम जाना पड़ा। १९१३ ई. में दुर्गापूजा के पूर्व ब्रह्मानन्दजी वहाँ गये थे। आगामी वर्ष अक्तूबर तक उनके मठ न लौटने पर मठवासी उनका तीव्र अभाव अनुभव करने लगे। अतः स्वामी प्रेमानन्द शीघ्रतापूर्वक उन्हें वापस लाने के लिए काशी पहुँचे। परन्तु महाराज उस समय मठ वापस न आकर प्रयाग को चल दिये। दूसरा कोई चारा न देखकर प्रेमानन्दजी ने उनका अनुसरण किया। वहाँ पर तीन दिन व्यतीत हो जाने पर भी महाराज के बेलुड़ लौटने का कोई लक्षण नहीं दिखाई दिया। अब प्रेमानन्दजी से न रहा गया। चौथे दिन वे उन्हें साष्टांग प्रणाम करते हुए बोले, ''महाराज, आपको मठ चलना ही होगा।'' आयु में ज्येष्ठ गुरुभाई के इस विनयपूर्ण आचरण से ब्रह्मानन्दजी घबड़ाकर कुर्सी से उठ खड़े हुए और बोले, ''यह क्या, बाबूरामदादा! यह क्या! उठो, उठो!'' उसी अवस्था में पड़े हुए ही बाबूराम महाराज ने व्याकुलतापूर्वक पुनः अपनी विनती दुहरायी। हार मानकर ब्रह्मानन्दजी को कहना ही पड़ा, ''उठो, उठो बाबूरामदादा – मैं चलूँगा।'' दूसरे ही दिन सभी लोग मठ को चल दिये। इस घटना से हमें अनुपम गुरुभ्रातृप्रेम और उससे भी अधिक अनुपम संघाध्यक्ष के प्रति निष्ठा दीख पड़ती है। यही रामकृष्ण-संघ की नींव है। आगामी वर्ष प्रेमानन्दजी ने नीलाचल (उड़ीसा) जाकर महाराज के साथ कुछ महीने बिताये। १९१६ ई. के अन्त में वे अन्तिम बार काशीधाम गये और १९१७ ई. के प्रारम्भ में मठ लौट आये। इसके अतिरिक्त मठजीवन के प्रारम्भ में किसी समय वे अपनी माता के साथ रामेश्वरम् आदि तीर्थों के दर्शन कर आये थे। इस प्रकार उन्होंने भारत वर्ष के प्रायः सभी प्रमुख तीर्थों के दर्शन करके तृप्तिलाभ किया था।

तीर्थभ्रमण के साथ ही वे ठाकुर की वाणी का प्रचार भी किया करते थे। प्रारम्भ में तो यह घटनाचक्र में पड़कर सभी के तथा अपने भी अनजाने में ही हो जाया करता, परन्तु जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों में उनके इस प्रचार का प्रभाव एवं प्रसार देखकर लोग विस्मित रह गये थे। जो बाबूराम महाराज सदा मठ के छोटे-मोटे कामों में ही लगे रहते थे, जो कभी विद्या या बुद्धिमत्ता का दावा नहीं करते थे, वे ही अब सभा-समितियों में उपस्थित रहते हुए अपने अटूट विश्वास तथा प्रेम

के प्रवाह से जनसमाज को धर्मभाव से उन्मत्त कर डालेंगे – यह भला कौन सोच सकता था? पूर्व बंगाल में उनकी प्रचार-शक्ति विशेष रूप से प्रकट हुई थी। यह सत्य है कि इसके पूर्व भी वे उत्सव आदि में भाग लेने मेदिनीपुर आदि स्थानों को अनेक बार गये थे, परन्तु पूर्व बंगाल के साथ मानो उनका एक अदृश्य सम्बन्धसूत्र था। स्वामी विवेकानन्द ने एक बार कहा था, "पूर्व बंगाल तेरे लिए रहा।" वस्तुतः चैतन्य महाप्रभु के प्रेमभाव में मुग्ध पूर्व वंग के आध्यात्मिक सागर में प्रेम की एक नवीन लहर उठाने की शक्ति स्वामी प्रेमानन्द के ही हृदय में निहित थी – वे ही थे जो स्वयं मत्त होकर दूसरों को भी मत्त बना देने में समर्थ थे।

१९१५ ई. में भक्तों के आमन्त्रण पर वे राड़िखाल (ढाका) गये। वहाँ श्री जगदीशचन्द्र बोस के निवासस्थान पर उनके ठहरने की व्यवस्था हुई। श्रीरामकृष्ण के इन पार्षद के आगमन से वह अंचल उस समय प्रेम से ओतप्रोत हो उठा। यहाँ तक कि मुसलमानों ने भी उस आनन्द में भाग लिया। किसी विशेष क्षेत्र में उत्सव के लिए चन्दा एकत्र करने न जाने पर उन लोगों ने कहा था – "वे क्या सिर्फ आप ही लोगों के हैं? वे तो हम लोगों के भी पीरसाहब हैं।" उस अंचल के बहुतसे घरों में लोगों को ठाकुर की पूजा एवं कीर्तन में उत्साहपूर्वक भाग लेते देखकर प्रेमानन्द आश्चर्यचकित रह गये। उत्सव में उन्होंने व्याख्यान आदि भी दिये थे। पर अत्यन्त दुःख की बात यह है कि इस उत्सव के पश्चात् कलकत्ता लौटते ही उन्हें कालरा हुआ और प्राणसंशय उपस्थित हुआ। एक दिन इस अवस्था में बाबूराम महाराज को अचेत देखकर सब को लगा कि वे अब देहत्याग कर देंगे। परन्तु थोड़ी ही देर बाद वे होश में आ गये और सब का शंकाकुल दुःखी चेहरा देखकर कहा, "डरो मत, यह शरीर अभी नहीं जाएगा – माँ जीवित जो है।" इस रहस्य को बहुतसे लोग नहीं जानते थे और जाननेवाले भी भूल चुके थे। श्रीरामकृष्ण ने जब बाबूराम की माता से सन्तान की भिक्षा माँगी थी, तो माता ने स्वीकृति देते हुए कहा था, "बाबा, इतनी भिक्षा दीजिए कि मेरी भगवान् में भक्ति हो, और मुझे पुत्र-कन्या का शोक न सहना पड़े।" ठाकुर ने वह वर प्रदान किया था। बाबूराम महाराज ने अब उसी अमोघ वाणी का सब को स्मरण करा दिया। जिस रोगी के बारे में चिकित्सकों तक ने आशा छोड़ दी थी, वे रोगी दैवी सामर्थ्य के बल पर अत्यन्त आश्चर्यजनक रूप से धीरे धीरे स्वस्थ हो उठे। उनकी इस अस्वस्थता के समय, पूर्व बंगाल के मुसलमान भक्तों ने 'मनौती' मानी थी तथा मठ में तार भेजकर कामना व्यक्त की थी कि वे शीघ्र आरोग्यलाभ करें।

आगामी वर्ष प्रेमानन्दजी ने ब्रह्मानन्दजी के साथ कामाख्या-दर्शन तथा पूर्व बंगाल का परिभ्रमण किया। मैमनसिंह में एक दिन नदी के तीर पर टहलते हुए उन्होंने देखा कि महाराज भावस्थ हो गये हैं। लोककल्याण में सदा तत्पर प्रेमानन्दजी

तुरन्त निकटस्थ युवकों को उनके चरणों में ले आये और कहा, "महाराज, बच्चों को आशीर्वाद दीजिए।" महाराज भी उत्साहपूर्वक बोले, "ये लड़के देवता बन जाएँगे।" तत्पश्चात् ढाका के रामकृष्ण मिशन का शिल्यान्यास कर वे लोग कासिमपुर के जमींदार के मकान पर आये। इसके बाद देवभोग में नागमहाशय के निवासस्थान का दर्शन करते हुए वे २५ फरवरी को कलकत्ता और उसके दूसरे दिन बेलुड़ पहुँचे।

१९१७ ई. में स्वामी प्रेमानन्द अन्तिम बार पूर्व बंगाल गये थे। उन दिनों एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय तथा कहीं ठहरते समय उनके चारों ओर इतने लोग आ जुटते थे कि बाद में किसी प्रत्यक्षदर्शी ने उनके साथ महात्मा गांधी की आकर्षणशक्ति की तुलना करते हुए कहा था, "महात्माजी को देखने के लिए भी इतनी भीड़ एकत्र नहीं होती।" प्रेमानन्द का प्रेम केवल हिन्दू समाज में ही आबद्ध न रहते हुए मुसलमान समाज में भी फैल रहा था। यह देखकर एक मौलवी के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। प्रेमानन्द जब मैमनसिंह के टांगाइल महाकमे के खारिन्दा गाँव में निवास कर रहे थे तो मौका देखकर उनकी परीक्षा लेने तथा उन्हें पराजित करने के उद्देश से वे मौलवी सम्मोहनविद्या में पारंगत अपने एक मित्र को साथ लेकर उनके पास आये। परन्तु वे विफल हुए और उन्हें अपनी भूल स्वीकारनी पड़ी। प्रेमानन्द महाराज इस पर तनिक भी रुष्ट नहीं हुए; बल्कि मौलवी साहब को जलपान कराने के लिए उन्होंने फलमिष्टान्न आदि मँगवाया। तब मौलवी बोले, "आप अब तक उदार मत का प्रचार करते रहे हैं; क्या आप मेरे साथ एक ही थाल में खा सकते हैं।" प्रेमानन्द दृढ़तापूर्वक बोले, "हाँ, खा सकता हूँ" और ऐसा ही किया भी। इस पर मौलवी साहब ने धीरानन्द को भी, जो प्रेमानन्द के साथ थे, आमन्त्रित किया; पर प्रेमानन्द ने मना किया और कहा, "एक के खाने से ही हुआ; धीरानन्द की अवस्था अभी वैसी नहीं है।"

मुसलमानों के प्रति उनके ऐसे प्रीतीपूर्ण व्यवहार के अनेक दृष्टान्त है। ढाका में रहते समय उनकी उदार वाणी से आकृष्ट होकर नवाब सलीमुल्ला ने उन्हें एक दिन अपने घर निमन्त्रित किया था और धर्मगुरु की तरह उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया था। एक बार प्रेमानन्द ने मठ में आये हुए एक मुसलमान सज्जन को कुछ खिलाया। बाद में यह देखकर कि कोई उनकी जूठन उठाने को तैयार नहीं है, उन्होंने स्वयं अपने ही हाथों वह कार्य सम्पन्न किया। वस्तुतः लोग प्रेमानन्द को प्रचारक, गुरु या सेवक चाहे जिस रूप में क्यों न स्वीकार करें, उनका प्रेम जाति-वर्ण-भेदनिरपेक्ष रूप से वितरित हुआ करता था।

खारिन्दा से वे ढाका आये और वहाँ से नारायणगंज होकर हसाड़ा और सोनार गाँव आदि स्थानों में उत्सव में भाग लेने गये। बाह्यदृष्टि का अवलम्बन कर यद्यपि हमने 'उत्सव' शब्द का प्रयोग किया है, तथापि यह स्मरण रखना होगा कि

इससे यथार्थ तथ्य प्रकट नहीं हो सकता, क्योंकि उत्सव के उपलक्ष्य में वे लोगों के मन में नवयुगोपयोगी एक नवीन प्रेरणा का संचार करने के लिए कटिबद्ध रहते थे। कीर्तन, उपदेश, व्याख्यान, दैनन्दिन व्यवहार आदि के माध्यम से वह प्रेरणा अभिव्यक्त हुआ करती थी, और उसका प्रभाव धर्म के क्षेत्र को लाँघकर समाज, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों में भी प्रसारित हो रहा था। उदाहरणार्थ, हसाड़ा आदि ग्रामों में उन्होंने देखा कि वहाँ के तालाब जलकुम्भी आदि जंगली वनस्पतियों से भरे हुए हैं; पर यह जानते हुए भी कि थोड़ेसे परिश्रम से उनकी सफाई करके उन्हें उपयोगी और स्वास्थ्यप्रद बनाया जा सकता है, ग्रामवासी पूरी तौर से उदासीन हैं। इससे वे व्यथित हुए। पहले तो वे इस विषय में उन लोगों को प्रोत्साहित करने लगे, परन्तु उससे कोई फल होता न देखकर एक दिन वे स्वयं ही पानी में उतर गये और जंगली वनस्पतियों को निकालने लगे। यह देखकर ग्रामवासियों को भी प्रेरणा मिली और वे उनका अनुकरण करते हुए उत्साहपूर्वक उस कार्य में जुट गये।

इस दीर्घकालीन भ्रमण तथा अस्वास्थ्यकर वातावरण के बीच रहने एवं कठोर परिश्रम करने के फलस्वरूप स्वामी प्रेमानन्द को कालाज्वर हो आया। कलकत्ता लौटकर चिकित्सा कराने से रोग का थोड़ा उपशम हुआ और वायुपरिवर्तन के लिए उन्हें वैद्यनाथधाम ले जाया गया। प्रारम्भ में तो वहाँ उनके स्वास्थ्य में काफी सुधार दिखाई दिया; परन्तु दुर्भाग्यवश उन दिनों इन्फ्ल्युएंजा की बीमारी पृथ्वी पर सर्वत्र महामारी जैसी फैलती हुई वैद्यनाथ तक भी पहुँच गयी और उनके शरीर में संक्रमित होकर उनके प्राणों का संशय उत्पन्न कर दिया। समाचार पाकर स्वामी शिवानन्द मठ से वहाँ अविलम्ब आ गये और उन्हें कलकत्ता ले आये। उनके कलकत्ता पहुँचने तक रोग नियन्त्रण से परे जा चुका था; अतः उत्तम चिकित्सा के बावजूद लौटने के चौथे दिन ही (३० जुलाई, १९१८ ई. मंगलवार, सन्ध्या ४ बजकर १५ मिनट पर) उन्होंने स्वधाम-गमन किया। उस दिन साधुगण प्रातःकाल से ही नामसंकीर्तन कर रहे थे। स्वामी ब्रह्मानन्द दुःखित हो कमरे के अन्दर-बाहर टहल रहे थे। एक बार भीतर आकर उन्होंने प्रेमानन्द से पूछा, "ठाकुर का अच्छा स्मरण है न? ऐसा हो तो फिर हम लोगों को भी भरोसा मिलता है।" ठाकुर के मानसपुत्र राखाल को कभी – यहाँ तक कि अन्तकाल में भी – ठाकुर का विस्मरण नहीं हो सकता, बाबूराम को भी नहीं; यह जानते हुए भी ब्रह्मानन्द ने सम्भवतः वर्तमान जड़सभ्यता के युग में प्रमाण स्थापित करने तथा वहाँ एकत्र साधु एवं भक्तों के मन में श्रद्धा जागृत करने के लिए ही यह कहा। और मानो उसे समझते हुए ही प्रेमानन्द ने मुस्कराकर स्वीकृति में गरदन हिलायी और क्षीण स्वर में कहा, "कृपा, कृपा, कृपा!" यह कहकर वे टकटकी लगाये ठाकुर के चित्र की ओर देखते रहे – पर बड़ी ही गम्भीर मुद्रा में।

महासमाधि के पूर्व एक दिन उन्होंने अन्यमनस्क भाव से स्वामी सारदानन्द से कहा था, "चम्पा के रंग के वस्त्र पहनने की इच्छा होती है और बेला के समान शुभ्र अन्न खाने की इच्छा होती है।" सुनकर एक परिपक्वबुद्धि ब्राह्मण ने विचार किया – "हम लोग गृहस्थ हैं, भला इतनी सब व्यवस्था कैसे कर सकेंगे?" भला उन्हें क्या पता था कि ह्लादिनी (आनन्दमयी) शक्ति से प्रकट होकर जो मूर्ति इतने दिनों तक मर्त्यलोक में रहती हुई भगवत्-कार्यसाधन में नियुक्त थी, वही आज अपने स्वरूप में लीन होना चाहती है? बाबूराम महाराज ने इस दैवी भाषा में उसी का पूर्वाभास मात्र दिया था।

स्वामी प्रेमानन्द प्रेम की हाट भंग करके चल दिये। यह मार्मिक संवाद चारों ओर फैल गया और इससे सब के हृदय में तीव्र आघात हुआ। सुनकर मास्टर महाशय बोले, "ठाकुर के प्रेम का पक्ष चला गया।" माताजी अश्रुपात करती हुई बोली, "मठ की शक्ति, भक्ति, युक्ति – सब मेरे बाबूराम का रूप धारण कर गंगातट को आलोकित करती हुई मठ में घूमा करती थी। हा, ठाकुर उसे भी ले गये!"

□□□

स्वामी निरंजनानन्द

श्रीरामकृष्ण अपने जिन विशिष्ट अन्तरंगों का 'ईश्वरकोटि' कहकर निर्देश किया करते थे स्वामी निरंजनानन्द उनमें एक थे। उन्होंने उनके बारे में यह भी कहा था कि वे श्रीरामचन्द्र के अंश से अवतीर्ण हुए हैं। अति उच्च आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न इन महापुरुष का जन्म चौबीस परगना जिले के राजारहाट-विष्णुपुर नामक ग्राम में अनुमानतः १८६२ ई. की श्रावण पूर्णिमा को हुआ था। आपके पिता का नाम श्री अम्बिकाचरण घोष तथा स्वयं का पूर्वनाम नित्यनिरंजन घोष था। बारासात-निवासी पण्डित कालीकिंकर मित्र आपके मामा थे। निरंजन कलकत्ते में मामा के घर पर रहकर अध्ययन किया करते थे। बचपन में वे तीर-धनुष् तथा अस्त्र आदि लेकर खेलना पसन्द करते थे। उनका गठन बड़ा सुन्दर था, तथा व्यायाम आदि के फलस्वरूप उनकी देह ऊँची-पूरी, सबल, सुडौल थी। तदनुरूप उनका स्वभाव भी निर्भीक तथा वीरतापूर्ण था। श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आने के पूर्व वे अहीरीटोला के डाक्टर प्यारीचाँद मित्र के मकान पर एक प्रेतात्मवादी दल से परिचित हुए थे। ये लोग प्रेत-आवाहन के माध्यम के रूप में निरंजन का उपयोग किया करते थे, क्योंकि उन पर प्रेत का आवेश बड़ी आसानी से हो जाता था। इस प्रकार प्रेताविष्ट निरंजन की सहायता से ये असाध्य रोगों की चिकित्सा आदि अनेक अलौकिक क्रियाएँ किया करते थे। इन प्रेतात्मवादियों के दल में आते-जाते एक घटना ने निरंजन के मन में वैराग्य का संचार किया। किसी धनाढ्य व्यक्ति ने अठारह वर्ष के लम्बे अरसे तक अनिद्रा रोग से कष्ट भोगने के बाद अन्त में निरंजन की शरण ली। निरंजन ने बाद में कहा था, "पता नहीं उस व्यक्ति को मुझसे कोई लाभ हुआ या नहीं, परन्तु ऐसा धनकुबेर होकर भी वह इतना कष्ट उठा रहा है, यह देखकर मेरे मन पर धन-सम्पत्ति की असारता की गहरी छाप पड़ी।"

वैराग्य का संचार होने के साथ ही निरंजन के लिए शीघ्र ही आध्यात्मिक राज्य का द्वार भी खुल गया। लोगों के मुँह से श्रीरामकृष्ण के अद्भुत भगवत्प्रेम तथा मनोहारी उपदेशों के बारे में सुनकर वे उनके दर्शन के लिए उत्सुक हो गये। शीघ्र ही अपने कुछ प्रेतात्मवादी मित्रों के साथ वे दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण से मिलने

आये। उस समय निरंजन की आयु सम्भवतः अठारह वर्ष* की थी। सुगठित सुन्दर शरीर था और नेत्रों से मानो ज्योति छिटक रही थी। सुना जाता है कि उस प्रथम साक्षात्कार के दिन ही निरंजन तथा उनके मित्रों ने श्रीरामकृष्ण से प्रेत-अवतरण का माध्यम बनने का अनुरोध किया। बालकसदृश सरलस्वभाव श्रीरामकृष्ण सहमत होकर उनके चक्र में बैठे; परन्तु थोड़ी ही देर बाद आसन छोड़कर उठ गये।

निरंजन जब दक्षिणेश्वर आये तो श्रीरामकृष्ण भक्तों से घिरे बैठे थे। सन्ध्या समय सभी के चले जाने पर वे आकर निरंजन के निकट बैठे और उनका परिचय पूछा। वार्तालाप धीरे धीरे घनिष्ठतर होता गया, मानो निरंजन उनके कितने ही दिनों के परिचित थे। बातचीत के प्रसंग में उन्होंने निरंजन से कहा, "देख निरंजन, भूत-भूत करने पर तू भूत ही हो जाएगा, और भगवान्-भगवान् करने से भगवान् हो जाएगा। इनमें कौनसा अच्छा है?" निरंजन ने उत्तर दिया, "तब तो भगवान् होना ही अच्छा है।" इस प्रकार उस दिन ठाकुर ने निरंजन को प्रेतात्मवादियों का संग त्यागने को कहा और इस पर वे सहमत हो गये। इस प्रथम दर्शन के बारे में लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) ने कहा था – "निरंजनभाई जब पहली बार दक्षिणेश्वर आया था, उस दिन ठाकुर ने उससे कहा, 'देख, यदि तू संसारी आदमी के निन्यानबे उपकार करे और एक नुकसान करे तो लोग तुझे सह न सकेंगे; ईश्वर के समीप यदि तू निन्यानबे अपराध करे और एक काम उनकी पसन्द का करे तो वे तेरा सारा अपराध क्षमा कर देंगे। मनुष्य के प्रेम और भगवान के प्रेम में इतना अन्तर जानना।'"†

उस दिन इसी प्रकार विविध प्रसंग चलते रहे। इतने दिनों बाद ठाकुर आज अपने आदमी से मिले थे, अतः बातें समाप्त होने का नाम ही नहीं आता था। धीरे-धीरे अँधेरा बढ़ने लगा। ठाकुर ने कहा, "सन्ध्या हो गयी है, आज घर नहीं गया तो भी क्या! आज यहीं रह जा न!" निरंजन घर में बतलाकर नहीं आये थे; रात में रह जाने पर मामा नाराज होते, अतः वे ठहरने को राजी नहीं हुए। ठाकुर ने पुनः कहा, "अरे इतनी दूर जाने में तकलीफ होगी; मत जा, आज यहीं रह जा।" इस पर भी निरंजन सहमत नहीं हुए। तब ठाकुर ने कहा, "अच्छा, जाना ही है तो जा, पर फिर आना। बोल, कब आएगा?" निरंजन ने शीघ्र ही आने का वचन दिया तथा ठाकुर की चरणधूलि लेकर विदा ली। परन्तु इस प्रथम दर्शन में ही श्रीरामकृष्ण के दिव्य आकर्षण ने उनके हृदय में उथल-पुथल मचा दी। अतः

* 'वचनामृत', ९ अप्रैल, १८८७ के अनुसार – १८८७ ई. के अप्रैल में उनकी आयु पच्चीस-छब्बीस वर्ष थी, अतएव उनका जन्मवर्ष १८६२ ई. ही प्रतीत होता है। श्रीरामकृष्ण के पास वे सम्भवतः १८८१-८२ ई. में आये थे।

† लाटू महाराजेर स्मृतिकथा, पृ. ४२८

घर लौटते समय उनके मन में बारम्बार यही विचार आ रहा था – 'ठहर जाना ही उचित था।' फिर कर्तव्यबुद्धि याद दिला रही थी – 'नहीं, मामा नाराज होंगे।' जो हो, उस दिन निरंजन घर लौटे।

इसके दो-तीन दिन बाद ही वे एक दिन पुनः सन्ध्या समय दक्षिणेश्वर में ठाकुर के चरणों में उपस्थित हुए। कमरे के दरवाजे तक आते ही ठाकुर ने जल्दी से बढ़कर उन्हें आलिंगन-पाश में बाँध लिया और व्याकुल वाणी में कहने लगे, "अरे निरंजन, दिन जो बीते जा रहे हैं रे – तू भगवत्प्राप्ति कब करेगा? दिन तो बीते जा रहे हैं। भगवत्प्राप्ति के बिना सब कुछ व्यर्थ हो जाएगा। बोल, तू कब उन्हें प्राप्त करेगा, कब उनके चरणकमलों में मन लगाएगा? मैं तो यही सोचकर व्यग्र हूँ!" निरंजन अवाक् रह गये! – 'ये कौन हैं? मुझे भगवत्प्राप्ति नहीं हो रही है, मेरे दिन बीते जा रहे हैं इसलिए, इनको मेरे बारे में इतनी व्यथा क्यों? दूसरे के लिए यह अहैतुक प्रेम क्यों?' वे इस रहस्य को सुलझा न सके, पर गम्भीर आवेग से पूर्ण उस अमृतमय वाणी को सुनकर उनका हृदय विगलित हो गया और उस रात वे दक्षिणेश्वर में ही रह गये। इतना ही नहीं उस अपूर्व स्नेह ने दूसरे दिन भी उन्हें वहीं बद्ध कर रखा। इस प्रकार दक्षिणेश्वर में तीन दिन बिताकर वे चौथे दिन कलकत्ता लौटे। बिना बताये इस तरह तीन दिन तक उनके अनुपस्थित रहने के कारण मामा बड़े ही चिन्तित हुए थे, और अनेक स्थानों पर उनकी तलाश भी करवायी थी। इसलिए चौथे दिन जब वे घर आये तो मामा ने रुष्ट होकर उन्हें आड़े हाथों लिया तथा घर में सभी को आदेश दिया कि निरंजन पर कड़ी निगाह रखी जाए। परन्तु यह व्यवस्था अधिक दिन तक नहीं चल सकी। कुछ दिन बाद ही मामा का मन द्रवित हुआ। इसके अतिरिक्त घर के नौकरों को भी ऐसा प्रतीत होने लगा कि एक अज्ञात दिव्य शक्ति ने निरंजन को घेर रखा है और उनके पथ में बाधक होने से अपना अमंगल होगा। अतः शीघ्र ही वे बिना किसी रोकटोक के फिर दक्षिणेश्वर आने-जाने लगे।

निरंजन की सरलता पर श्रीरामकृष्ण प्रारम्भ से ही अत्यन्त मुग्ध थे। इसीलिए एक दिन उन्होंने मास्टर महाशय से कहा, "तुम्हें निरंजन से मिलने के लिए क्यों कह रहा हूँ? यह देखने के लिए कि वह वास्तव में सरल है या नहीं।" (वचनामृत, २४ मई, १८८४) १५ जून, १८८४ ई. को श्रीरामकृष्ण काँकुड़गाछी में श्री सुरेन्द्र के उद्यान में आयोजित एक महोत्सव में गये थे। कीर्तन हो जाने पर वे भक्तों के साथ बैठे थे। इसी समय निरंजन आये और श्रीरामकृष्ण को भूमिष्ठ हो प्रणाम किया। श्रीरामकृष्ण उन्हें देखकर ही खड़े हो गये। आनन्द से श्रीरामकृष्ण की आँखें उज्ज्वल हो गयीं; कहा, तू आ गया! (मास्टर से) देखो, यह लड़का बड़ा सरल है। सरलता पूर्वजन्मार्जित बहुत बड़ी तपस्या का फल है। कपटाचार, पटवारी बुद्धि

इन सब के रहते ईश्वरप्राप्ति नहीं होती।" (वचनामृत, १५ जून, १८८४) निरंजन की वृद्धा माता उस समय जीवित थीं। अतः माँ के भरण-पोषण के लिए निरंजन को नौकरी स्वीकारनी पड़ी। श्रीरामकृष्ण नहीं चाहते थे कि उनका कोई उच्चाधिकारी भक्त धन के बन्धन में पड़े। इसलिए उस दिन उन्होंने निरंजन से कहा, "देख, तेरे मुँह पर स्याही आ गयी है, तू आफिस का काम करता है न – इसीलिए आफिस में हिसाब-किताब रखना पड़ता होगा, और भी कितने ही तरह के काम होंगे! सारे समय सोचना पड़ता होगा। संसारी आदमी जिस तरह नौकरी करते हैं, तू भी वैसी ही करता है, परन्तु कुछ भेद है। तूने अपनी माँ के लिए नौकरी की है। माँ गुरु हैं, ब्रह्ममयी की मूर्ति हैं। अगर बीबी और बच्चों के लिए तू नौकरी करता तो मैं कहता 'तुझे धिक्कार है, सौ बार धिक्कार है।' " फिर ठाकुर मणि मल्लिक से बोले, "देखो, यह लड़का बड़ा सरल है, पर आजकल कुछ झूठ बोलने लगा है। यही इतना दोष है। उस दिन कह गया था आऊँगा, परन्तु फिर नहीं आया। (निरंजन से) इसी पर राखाल कहता है, एँड़ेदाह में आकर तूने क्यों नहीं भेंट की?" निरंजन बोले, "मैं एँड़ेदाह में बस दो दिनों के लिए आया था।" फिर ठाकुर मास्टर की ओर इंगित कर निरंजन से बोले, "ये हेडमास्टर हैं। तुझसे मिलने गये थे। मैंने भेजा था।" (वचनामृत, १५ जून, १८८४)

निरंजन की सरलता और वैराग्य के कारण ठाकुर उनके प्रति कितने स्नेहपरायण थे, इसका उल्लेख 'वचनामृत' ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर आया है। पाठकों की सुविधा के लिए हम उनमें से कुछ अंश उद्धृत कर रहे हैं। ठाकुर ने एक दिन (४ जनवरी, १८८६ ई. को) निरंजन के वैराग्य के बारे में मणि से कहा था – "देखते हो न निरंजन को! उसका भाव है – 'यह ले अपना और इधर ला मेरा।' बस, और कोई सम्बन्ध नहीं, और कोई खिंचाव नहीं।" इसके पहले एक दिन (२० जून, १८८४ ई. को) ठाकुर ने मास्टर महाशय से कहा था – "बाबूराम और निरंजन, इन्हें छोड़कर और लड़के कौन हैं? अगर कोई आता है, तो मालूम होता है कि उपदेश लेकर चला जाएगा। ... अच्छा, निरंजन तुम्हें कैसा लगता है?" मास्टर ने उत्तर दिया – "जी, बड़े अच्छे चेहरे-मोहरे का है।" ठाकुर बोले – "नहीं, सिर्फ चेहरा-मोहरा नहीं। सरल है। सरल होने पर सहज ही लोग ईश्वर को पा जाते हैं। सरल होने पर उपदेश भी शीघ्र सफल हो जाता है। ... निरंजन विवाह नहीं करेगा। तुम क्या कहते हो? कामिनी और कांचन, यही बाँधते हैं न?" मास्टर – "जी हाँ।" ठाकुर – "भाव में मैंने देखा, यद्यपि वह नौकरी करता है, फिर भी उसे दोष स्पर्श नहीं कर सका। माँ के लिए नौकरी करता है, इसमें दोष नहीं है। ... नरेन्द्र, राखाल, निरंजन इन लोगों का पुरुष-भाव है।" (वचनामृत, २० जून, १८८४) बलराम-भवन में एक दिन ठाकुर ने भावावेश में कहा था – "अलख निरंजन! ...

निरंजन! आ बेटा, कब तुझे भोजन कराकर जन्म सफल करूँ! देह धारण करके मनुष्य के रूप में तू मेरे लिए आया हुआ है।'' फिर उसी दिन अन्य समय कहा था – ''देखो न, निरंजन किसी में लिप्त नहीं है। खुद रुपया लगाकर गरीबों को दवाखाने ले जाया करता है। विवाह की बात पर कहता है, 'बाप रे! विशालाक्षी नदी का भँवर है।' उसे मैं देखता हूँ, एक ज्योति पर बैठा हुआ है।'' (वचनामृत, ७ मार्च, १८८५) काशीपुर में (२३ दिसम्बर, १८८५ ई. को) उन्होंने यही अनुपम स्नेह दिखाते हुए कहा था – ''तू मेरा बाप है, मैं तेरी गोद में बैठूँगा।''

इन समस्त घटनाओं तथा वार्तालाप के अंशों से निरंजन के प्रति ठाकुर के अगाध स्नेह एवं विश्वास का परिचय मिलता है; परन्तु ठाकुर कभी स्नेहान्ध नहीं थे। आवश्यकतानुसार शुभाकांक्षी पिता के समान नियन्त्रण भी किया करते थे। श्रीयुत निरंजन स्वभाव से ही उग्र थे। नाव द्वारा दक्षिणेश्वर आते समय एक दिन उन्होंने नाव में सवार लोगों को श्रीरामकृष्ण की वृथा निन्दा करते सुना। पहले तो उन्होंने उसका तीव्र विरोध किया परन्तु उस पर भी उन लोगों के चुप न होने पर वे अत्यन्त क्रुद्ध होकर नाव को डुबोने के लिए उद्यत हो गए। निरंजन का शरीर अत्यन्त सुदृढ़ तथा बलवान् था तथा वे तैरने में भी बड़े कुशल थे। उनकी क्रोधपूर्ण मुद्रा के समक्ष सभी भय से काँपने लगे तथा बहुत अनुनय-विनय एवं क्षमाप्रार्थना करते हुए निन्दकों ने उन्हें इस कार्य से विरत किया। बाद में यह बात मालूम होने पर ठाकुर ने उन्हें डाँटते हुए कहा – ''क्रोध चाण्डाल होता है, क्या कभी क्रोध के वशीभूत हो जाना चाहिए? सज्जन का क्रोध जल पर के चिन्ह जैसा होता है, पड़ते ही मिट जाता है। हीन बुद्धि के लोग कितनी ही गलत बातें कहते रहते हैं, उसे लेकर वाद-विवाद करते रहो तो जीवन उसी में बीत जाएगा। ऐसे अवसरों पर तू लोगों को कीड़े के समान समझते हुए उनके बातों की उपेक्षा करना। क्रोध के वश में आकर तू कितना बड़ा गलत कार्य करने जा रहा था! भला सोचकर तो देख – बेचारे माझी-मल्लाहों ने तेरा क्या बिगाड़ा था, जो तू उन गरीबों पर भी अत्याचार करने तैयार हो गया था।'' (लीलाप्रसंग-दिव्यभाव)

निरंजन उन दिनों कुछ अधिक परिमाण में घी खाया करते थे। इसका पता लगने पर ठाकुर ने उन्हें सावधान कर दिया – ''इतना घी क्यों खाता है? क्या लोगों की बहू-बेटियाँ भगाएगा?'' भक्तों को ठाकुर विचार-बुद्धिरहित होने से मना करते थे। बिना विचार किये अथवा आदर्श की मर्यादा को हानि पहुँचाते हुए कोई धारणा बना लेने या व्यक्त करने पर ठाकुर तुरन्त ही उसमें संशोधन कर दिया करते थे। एक दिन श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर के प्रसंग में ठाकुर कह रहे थे, ''इतने ऐश्वर्य का भोग करके भी अगर वह ईश्वर की चिन्ता नहीं करता तो लोग कितना धिक्कारते?'' निरंजन तुरन्त बोल उठे, ''द्वारकानाथ ठाकुर का सब कर्ज उन्होंने चुका दिया था।''

निरंजन नहीं समझ सके थे कि ठाकुर किस उच्च स्तर से बातें कर रहे हैं। इससे ठाकुर थोड़े नाराज होकर बोले, ''चल, रख ये सब बातें। अब जला मत। शक्ति के रहते भी जो बाप का किया हुआ कर्ज नहीं चुकाता, वह भी कोई आदमी है? हाँ, बात यह है कि संसारी लोग बिलकुल डूबे रहते हैं, उनकी तुलना में वह बहुत अच्छा था – उन्हें शिक्षा मिलेगी। यथार्थ त्यागी भक्त और संसारी भक्त में बड़ा अन्तर है। ... सच्चा भक्त कामिनी और कांचन को छू भी नहीं सकता, पास भी नहीं रख सकता क्योंकि कहीं आसक्ति न आ जाए।'' (वचनामृत, ७ सितम्बर, १८८४)

आवश्यकतानुसार इस प्रकार नियन्त्रण करने पर भी ठाकुर की वाणी तथा क्रियाओं में स्नेह-विश्वास शतधाराओं में प्रवाहित हुआ करता था। लाटू महाराज ने एक बार कहा था – ''एक दिन ठाकुर ने भावावेश में निरंजनभाई को स्पर्श कर दिया। इस पर तीन दिन और तीन रात तक उसकी आँखों की पलकें नहीं झपकी थीं। सतत ज्योति-दर्शन कर रहा था और जप किये जा रहा था। तीन दिन तक उसकी जीभ से जप न छूटा। बड़ा भूत उतारता था न, इसीलिए उन्होंने (ठाकुर ने) विनोदपूर्वक कहा, 'इस बार ऐसा-वैसा भूत नहीं चढ़ा है, बिलकुल भगवान्-भूत ही गरदन पर सवार है। तेरी क्या बिसात जो तू उसे गरदन से उतार सके।' ''*

दक्षिणेश्वर में आते-जाते एक दिन सुअवसर देखकर ठाकुर ने निरंजन को दीक्षा दी। ''भक्तों में किसी किसी को इस प्रकार के स्पर्श के अतिरिक्त वे कभी कभी मन्त्र-दीक्षा भी दिया करते थे। इस दीक्षादान के समय वे साधारण गुरुओं की तरह शिष्यों की जन्मपत्री का विचार या पूजा आदि नहीं करते थें, किन्तु योगदृष्टि की सहायता से उसके पूर्व जन्मों के संस्कारों को देखकर 'तेरा यह मन्त्र है', कहकर मन्त्र बतला देते थे। निरंजन, तेजचन्द्र, वैकुण्ठ आदि कुछ भक्तों पर उन्होंने इसी तरह कृपा की थी, यह बात हमने उन लोगों से सुनी है।'' ('लीलाप्रसंग-दिव्यभाव')

ठाकुर के स्नेह एवं अध्यात्म-स्पर्श से पूर्णरूपेण अभिभूत होकर निरंजन ने उन्हीं को अपने जीवन के ध्रुवतारे के रूप में स्वीकार किया था और क्रमशः उनके स्वरूप से परिचित भी हुए थे। इसीलिए जिस रात (६ नवम्बर, १८८५ ई. को) गिरीश आदि ने ठाकुर के शरीर में माँ काली का आविर्भाव देखकर उनके चरणों में पुष्पांजलि दी थी, उसी रात निरंजन ने भी भक्ति-गद्गद चित्त से 'ब्रह्ममयी' 'ब्रह्ममयी' कहते हुए पुष्पांजलि प्रदान करके उनके चरणों में नतमस्तक हो प्रणाम किया था। परन्तु इस स्वरूप के पहचानने से भी बड़ी चीज थी – ठाकुर के प्रति उनका आन्तरिक प्रेम, जिसके फलस्वरूप त्यागी सन्तानगण पूर्णतया उनके अपने हो गये थे। काशीपुर में रहते समय एक दिन (२३ दिसम्बर, १८८५ ई. को) ठाकुर परीक्षा लेने के निमित्त

* लाटू महाराजेर स्मृतिकथा, पृ. ४२९

निरंजन की ओर इंगित कर बोले, "अभी निरंजन घर गया था। तू बता, तुझे क्या मालूम पड़ता है?" निरंजन ने बेझिझक उत्तर दिया, "जी पहले प्यार ही था, परन्तु अब छोड़कर नहीं रहा जाता।" (वचनामृत, २३ दिसम्बर, १८८५)

निरंजन एक तो शक्तिशाली और वीरभावपूर्ण थे, फिर ठाकुर की अन्तिम व्याधि के समय उनकी सभी तरह से रक्षा करना, उन्होंने अपना प्रमुख कर्तव्य मान लिया था। इसके फलस्वरूप यद्यपि कई बार उनका आचरण दूसरों को अप्रिय प्रतीत होता था, तथापि ठाकुर के प्रति उनका एकनिष्ठ अनन्य प्रेम देखकर वे नाराज न हो मुग्ध ही हुआ करते थे। ठाकुर की बीमारी के अन्तिम दिनों में युवक भक्तों ने मिलकर यह निश्चित किया था कि हर किसी को ठाकुर के पास नहीं जाने दिया जाएगा। वीरभक्त निरंजन ने आगे बढ़कर इस अत्यावश्यक परन्तु अप्रिय कार्य का भार स्वीकार किया। उन्हीं दिनों एक बार भक्तश्रेष्ठ रामचन्द्र दत्त ने ठाकुर के निकट जाने की इच्छा व्यक्त की। पर निरंजन ने मना किया। तब रामबाबू ने कुछ मिठाइयाँ और माला लाटू के हाथ में देते हुए कहा, "अरे, इसे ऊपर ले जाकर प्रसाद करके ला दे।" इस पर दुःखी होकर लाटू ने निरंजन से कहा, "इन्हें ऊपर जाने दो न भाई! आपस में भी क्या यह सब नियम लागू करना चाहिए?" परन्तु निरंजन तब भी टस से मस न हुए। तब लाटू कटाक्षपूर्वक बोले, "श्यामपुकुर मे उस दिन जब दानाकाली विनोदिनी को साहब के वेष में ले आया, तो तुमने उसको छोड़ दिया और अब इनके जैसे व्यक्ति को नहीं छोड़ना चाहते।" पाठकों की जिज्ञासा-निवारणार्थ यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि ठाकुर के श्यामपुकुर अवस्थान-काल में विनोदिनी नामक एक भक्तिमती अभिनेत्री ने श्री कालीपद घोष (दानाकाली) के समीप ठाकुर के दर्शन करने की विशेष इच्छा प्रकट की थी। किन्तु उस समय निरंजन आदि ने यह नियम बनाया था कि इस तरह की स्त्रियों को ठाकुर के पास नहीं जाने दिया जाएगा, क्योंकि इनके स्पर्श से ठाकुर की बीमारी बढ़ती है। अतः अन्य कोई उपाय न देखकर दानाकाली विनोदिनी को साहब के वेष में ले आये और द्वारपाल निरंजन को झाँसा देकर उसे ठाकुर के दर्शन कराये। हाँ, वहाँ जाकर अवश्य ही उन्होंने सब कुछ प्रकट कर दिया और इस प्रहसन पर हँसी भी हुई। अस्तु! उस दिन लाटू की बात पर निरंजन का दिल पिघला और उन्होंने रामबाबू से कहा, "आप ऊपर जाइए।" इसके बाद लाटू जब ऊपर गये तो अन्तर्यामी ठाकुर ने मानो उस दिन की सारी बातें जानकर ही लाटू से कहा, "देख, कभी किसी के दोष मत देखना, लोगों के सिर्फ गुण ही देखना।" ठाकुर की बात पर लाटू को बड़ा दुःख हुआ और नीचे आकर उन्होंने निरंजन से कहा, "भाई, मेरे जैसे मूर्ख की बात पर बुरा मत मानना।" यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट है कि निरंजन तो उस समय अपना कर्तव्य पालन किये जा रहे थे – उन्हें सुख और दुःख का अवकाश ही कहाँ था?

एक पगली बीच बीच में काशीपुर आकर बड़ा ही उत्पात मचाया करती थी, अतः भक्तों ने यह ठहराया कि उसे ऊपर नहीं जाने दिया जाएगा। एक दिन दोपहर में वह आयी और ऊपर जाने के लिए हठ करने लगी। इधर निरंजन उसे किसी हालत में ऊपर नहीं जाने दे रहे थे। इतने में ऊपर से सन्देशा आया कि ठाकुर पगली को बुला रहे हैं। अतः शशी उसे ऊपर ले गये। पगली ऊपर तो गयी, परन्तु इससे अधिकांश युवक भक्तों का उसके प्रति क्रोध बढ़ता ही गया। इसी समय एक दिन (१६ अप्रैल, १८८६ ई.) राखाल ठाकुर के समक्ष वार्तालाप करते समय पगली का उल्लेख करते हुए कहने लगे, "दुःख होता है – वह उपद्रव करती है, इस कारण बहुतसे लोगों को कष्ट भी होता है।" निरंजन तुरन्त ही बोल उठे, "तेरी बीबी है, इसीलिए तेरा मन इस तरह छटपटाता है। हम लोग तो उसे लेकर बलि चढ़ा सकते हैं!" राखाल वैराग्य के नाम पर ऐसी निष्ठुरता को सहन न कर सके और बोल उठे, "बड़ी बहादुरी करोगे! उनके सामने ये सब बातें कर रहे हो!" (वचनामृत, १६ अप्रैल, १८८६) यहाँ दो आदर्शों का एक अपूर्व संघर्ष दीख पड़ता है – एक ओर है गुरुसेवा तथा दूसरी ओर है मातृजाति के प्रति सम्मान एवं भक्तप्रेम!

कर्तव्य की माँग तथा वैराग्य के प्रथम आवेग के कारण यद्यपि निरंजन आपाततः कुछ उग्र स्वभाव के प्रतीत होते थे, फिर भी उनके चरित्र में कोमलता का अभाव नहीं था। वस्तुतः वे विशेष अवसरों पर जैसे 'वज्रादपि' कठोर हुआ करते थे, वैसे ही 'कुसुमादपि' मृदु भी हो सकते थे। ठाकुर के देहत्याग के बाद जब नरेन्द्र आदि बहुतसे लोग आँटपुर गये तब उनके साथ निरंजन भी थे। वहाँ स्नान करते समय सारदा महाराज डूबने लगे, तब निरंजन ने ही अपने प्राणों का मोह त्यागकर उन्हें तालाब से निकाला था। इन सब कार्यों में उनका उद्यम और उत्साह देखते ही बनता था। मठ के प्रारम्भ के दिनों में एक बार शशी महाराज कहीं बाहर जाकर बीमार पड़ गये। समाचार पाते ही निरंजन उन्हें सावधानीपूर्वक मठ में ले आये और सेवा-शुश्रूषा द्वारा चंगा कर दिया। स्वामी योगानन्द को जब इलाहाबाद में चेचक निकल आयी थी, तब भी निरंजन अविलम्ब उनकी शय्या के समीप जाकर उपस्थित हुए थे। लाटू महाराज ने कहा था – "किसी की भी बीमारी की बात सुनने पर दौड़धूप का काम निरंजनभाई स्वयं अपने ऊपर ले लिया करता था।" १८८८ ई. में जब लाटू महाराज को निमोनिया हुआ तो निरंजन ने उनकी सेवा का अधिकांश उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर ले लिया था। बलरामबाबू की अन्तिम बीमारी के समय भी उन्होंने शिवानन्द और सदानन्द के साथ जी-जान से उनकी सेवा की थी।

मठ जब वराहनगर में था, तब एक दिन स्वामी निरंजनानन्द ठाकुर के भोग के लिए एक छोटेसे दोने में मिठाई लिये जा रहे थे। उसी रास्ते से एक गरीब स्त्री अपने छोटे बच्चे को गोद में लिए जा रही थी। निरंजनानन्द के हाथ में दोना देखकर

बच्चा मिठाई खाने के लिए रोने और मचलने लगा। माँ उसे जितना ही डाँटती, बच्चे का रोना उतना ही बढ़ता जाता। यह देखकर निरंजनानन्द ने मिठाई का दोना बच्चे को देते हुए कहा, "खाओ बेटा, खाओ।" इस पर वह स्त्री कहने लगी, "नहीं बाबा, तुम ठाकुरजी की सेवा के लिए मिठाई ले जा रहे हो; इसे खाने पर बच्चे का अमंगल होगा।" निरंजनानन्द बोले, "नहीं माँ, लड़के को कोई दोष नहीं लगेगा। इसके खाने पर ठाकुर का ही खाना होगा।" इतना कहकर दोने को बालक के हाथ में देकर वे पुनः ठाकुर के लिए मिठाई लाने चल दिये।

ठाकुर की इच्छा थी कि उनका पावन देहावशेष गंगातट पर प्रतिष्ठित हो, परन्तु वयस्क भक्तों ने जब यह निश्चित किया कि उसे काँकुड़गाछी में रामबाबू के उद्यान में ले जाया जाएगा, तब निर्धन युवा भक्तों ने और कोई चारा न देखकर, ठाकुर द्वारा उपयोग में लायी गयी वस्तुओं को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से उस समय के लिए बलराम-भवन में भेज दिया और तदुपरान्त कहीं चिताअवशेष हाथ से न निकल जाए इसके लिए उपाय सोचने लगे। वयस्क तथा युवा भक्तों के इस मतभेद में नरेन्द्र ने मध्यस्थता करते हुए वयस्क भक्तों का पक्ष लेकर उस समय के लिए विवाद को शान्त किया; परन्तु इसी बीच शशी और निरंजन ने आपस में गुप्त रूप से सलाह करके भस्मास्थिपूर्ण ताम्रकलश में से आधे से अधिक चिताभस्म तथा अस्थि निकालकर एक नवीन पात्र में रख ली तथा यथासमय अवशिष्ट अस्थिसहित ताम्रकलश वयस्क भक्तों के हाथ सौंप दिया। शशी और निरंजन द्वारा संरक्षित अस्थि को ही बाद में आचार्य विवेकानन्द 'आत्माराम के पात्र' के रूप में बेलुड़ मठ लाये थे, जो कि आज भी वहीं है।*

सम्भवतः १८८७ ई. के प्रारम्भ में निरंजन वराहनगर मठ में सम्मिलित हुए तथा संन्यास लेकर निरंजनानन्द नाम से परिचित हुए। मठ में निरंजनानन्द का झुकाव तपस्या की ओर ही अधिक दीख पड़ता था, पर साथ ही वे मठ के दैनन्दिन श्रमसाध्य कार्य भी यथेष्ट मात्रा में किया करते थे तथा पूजा आदि में भी दूसरों की सहायता करते थे। मठ में उनका लगातार निवास नहीं हुआ, क्योंकि अन्य गुरुभाइयों की तरह वे भी बीच बीच में तीर्थदर्शन को जाया करते थे।

१८८७ ई. के प्रथम भाग में वे पुरीधाम गये और ८ अप्रैल को मठ में लौट आये। तदुपरान्त वे नवम्बर, १८८९ ई. में तपस्या के लिए निकले। प्रथम वे देवघर आये और वहाँ वैद्यनाथ का दर्शन किया। देवघर से वे काशी गये और वहाँ वंशी दत्त के मकान में रहते हुए उन्होंने कुछ दिन तपस्या की। उस काल में वे माधुकरी द्वारा प्राप्त भिक्षा पर ही निर्भर रहते थे। इसी बीच स्वामी योगानन्द की बीमारी का

* उद्बोधन, संख्या १७, पृष्ठ ४४०

समाचार पाकर उन्हें तीर्थराज प्रयाग आना पड़ा तथा इसी सुयोग से उनका वहाँ कल्पवास भी हुआ। इसके पश्चात् उन्होंने उत्तर भारत के अन्यान्य तीर्थों का दर्शन किया तथा कहीं कहीं कुछ दिन ठहरकर तपस्या भी की।

सन् १८९१-९२ में जब स्वामी विरजानन्द ने मठ में आना-जाना प्रारम्भ किया तब उन्हें निरंजनानन्द महाराज प्रायः दक्षिणेश्वर में पंचवटी के नीचे तथा ठाकुर के कमरे में ध्यान करने जाते हुए दिखाई देते थे। विरजानन्द भी कभी कभी उनके साथ हो लिया करते थे। मठ में सम्मिलित होने के पूर्व की गर्मी की छुट्टियाँ मठ में बिताने के बाद जब विरजानन्द घर को वापस लौट गये, तब निरंजनानन्द महाराज बीच बीच में उनके घर जाकर उनका वैराग्य उद्दीप्त किया करते थे। बाद में विरजानन्द को साथ लेकर वे कई बार जयरामवाटी गये थे। जब विरजानन्द पहली बार मलेरिया ग्रस्त होकर जयरामवाटी से मठ में लौटे, तब स्नेहपरायण महाराज ने उन्हें बलराम-मन्दिर में रखकर उनकी चिकित्सा की व्यवस्था की थी। उन दिनों वे उन्हें गिरीशबाबू के पास ले जाकर ठाकुर की बातें भी सुनवाया करते थे।

फिर स्वामी विवेकानन्द के २२-१०-१८९४ ई. के पत्र से पता चलता है कि निरंजनानन्द उस समय श्रीलंका में थे। स्वामीजी लिखते हैं – "निरंजन सिलोन में पाली भाषा क्यों नहीं सीखता और बौद्धग्रन्थों का अध्ययन क्यों नहीं करता? निरर्थक भ्रमण करने में क्या लाभ है – यह मेरी समझ में नहीं आता।" परन्तु ऐसी बात नहीं कि स्वामी निरंजनानन्द व्यर्थ ही भ्रमण कर रहे थे – साधु का भ्रमण कभी व्यर्थ नहीं होता। उन दिनों वे जहाँ कहीं भी जाते, वहीं पर श्रीरामकृष्ण की महिमा का प्रचार करते थे और इस प्रकार सर्वत्र ही भक्तों की संख्या में वृद्धि हो रही थी। और स्वामीजी भी इस बात से अपरिचित हों ऐसा नहीं है, इसीलिए तो इसके कुछ हि दिन पहले उन्होंने एक अन्य पत्र में लिखा था – "निरंजन इस समय ऐसा कार्य कर रहा है कि तुम लोग सुनकर अवाक् रह जाओगे। मैं समाचार लेता हूँ।" श्रीलंका से लौटने के बाद भी उनके कार्य की प्रशंसा करते हुए स्वामीजी ने लिखा था – "निरंजन ने सिंहल आदि स्थानों में काफी कार्य किया है।" वस्तुतः स्वामीजी चाहते थे कि उनके गुरुभाइयों में कोई भी जिस किसी कार्य को करे वह और अच्छी तरह से सम्पन्न हो। यह शुभकामना ही बहुधा समालोचना का रूप धारण कर व्यक्त हुआ करती थी। अस्तु, उस समय निरंजन महाराज कुछ अधिक समय दक्षिण भारत तथा श्रीलंका में बिताकर १८९५ ई. के प्रारम्भ में श्रीरामकृष्णदेव के जन्मोत्सव के पूर्व ही आलमबाजार मठ लौट आये।

फिर संवाद आया कि स्वामीजी १८९६ ई. के अन्त में पाश्चात्य देशों से लौटकर भारत आएँगे। समाचार पाते ही निरंजनानन्द उनसे मिलने शीघ्रतापूर्वक कोलम्बो चले गये। १५ जनवरी १८९७ ई. को स्वामीजी जब जलयान से उतरे

तो सर्वप्रथम आपने ही उनका स्वागत किया। तदुपरान्त वे स्वामीजी के साथ दक्षिण भारत के विविध स्थानों का भ्रमण करते हुए कलकत्ता लौटे। उस वर्ष स्वामीजी के उत्तर भारत भ्रमणकाल में भी वे उनके साथ पंजाब तथा काश्मीर के अनेक स्थानों को गये। जब १८९८ ई. में स्वामीजी अल्मोड़ा आये, तब भी वे उनके साथ थे।

उस वर्ष स्वामी निरंजनानन्द अल्मोड़ा से स्वामी शुद्धानन्द के साथ वाराणसी आये तथा वंशी दत्त के उद्यान में रहते हुए तपस्यारत हुए। उस समय वे माधुकरी पर रहा करते थे। काशी में निवास करते समय उनकी चारुबाबू (स्वामी शुभानन्द) से मुलाकात हुई। इसके पूर्व चारुबाबू जब एक बार आलमबाजार मठ गये थे, तब उनकी स्वामी निरंजनानन्द के साथ जान-पहचान हुई थी। अब ठाकुर के इन अन्तरंग पार्षद को निकट पाकर वे उनसे घनिष्ठ रूप से मिलने-जुलने लगे। उन दिनों काशी के कुछ युवक श्री केदारनाथ मौलिक (स्वामी अचलानन्द) के मकान पर एकत्र होकर श्रीरामकृष्णदेव के विषय में चर्चा आदि किया करते थे। चारुबाबू से यह बात ज्ञात होने पर एक दिन निरंजनानन्द ने उस सभा में भाग लेने की इच्छा व्यक्त की। चारुबाबू ने सबको बतला दिया की श्रीरामकृष्णदेव के एक पार्षद काशी में ही हैं और वे आगामी सभा में उपस्थित होंगे। संवाद पाकर सभी अत्यन्त आनन्दित हुए और यथायोग्य व्यवस्था में जुट गये। चारुबाबू का लाया हुआ श्रीरामकृष्ण का एक चित्र पहले से ही केदारनाथ के घर पर रखा हुआ था। उस दिन उसे पुष्पमाला से सुसज्जित किया गया। फिर सन्ध्या समय निरंजन महाराज आये और अपनी स्वभाव सुलभ सरल भाषा में श्रीरामकृष्ण का गुणागान किया। भक्तगण उनके भाव-माधुर्य पर मुग्ध हो गये। इसके कुछ दिन बाद ही श्रीरामकृष्णदेव का जन्मदिन था। उस दिन पुनः केदारनाथ के निवासस्थान पर उपस्थित होकर उन्होंने अपने हाथ से पूजा आदि सम्पन्न की। यद्यपि उस दिन का आयोजन छोटा ही था, पर भक्तों में उत्साह विपुल था; विशेषकर श्रीरामकृष्ण पार्षद की उपस्थिति तथा उनके श्रीमुख से निकली श्रीरामकृष्णविषयक भावपूर्ण बातों ने सब का चित्त आकृष्ट कर लिया। अवसर पर भक्तों में कुछ प्रसाद-वितरण भी हुआ। इस प्रकार स्वामी निरंजनानन्द के नेतृत्व में वाराणसी में श्रीरामकृष्णोत्सव का प्रवर्तन हुआ और इसके बाद से वहाँ पर नित्य नियमित रूप से सन्ध्या समय श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-सम्बन्धी चर्चा चलने लगी।

काशीधाम में कुछ दिन तपस्या आदि में बिताने के बाद निरंजनानन्द महाराज हरिद्वार चले गये। इधर केदारनाथ के हृदय में वैराग्य की अग्नि अधिकाधिक प्रज्वलित हो रही थी। इसी बीच स्वामीजी के शिष्य स्वामी कल्याणानन्द हरिद्वार जाते समय मार्ग में काशी ठहरे। उनके सम्पर्क में आकर केदारनाथ का वैराग्य और भी अधिक तीव्र हो उठा। उनकी अवस्था देखकर एक दिन चारुबाबू ने कहा, ''अब क्या देखते हैं जी, अभी निकल पड़िए।'' केदारनाथ ने पूछा, ''कहा जाऊँ?'' चारुबाबू बोले,

''हरिद्वार में निरंजनानन्द स्वामीजी हैं। आप कुछ दिन उनके पास जाकर रहिए। मैं पत्र लिख देता हूँ।'' केदारनाथ सहमत हो गये। चारुबाबू ने हरिद्वार में निरंजनानन्द को पत्र द्वारा केदारनाथ के गृहत्याग के संकल्प से अवगत कराया। उत्तर में निरंजन महाराज ने अत्यन्त स्नेहपूर्ण भाषा में केदारनाथ को इस पथ की विपुल विघ्न-बाधाओं की जानकारी दी और कठोपनिषद् से ''क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'' आदि श्लोक उद्धृत करते हुए उन्हें अपना यह संकल्प त्याग देने की सलाह दी। परन्तु केदारनाथ के हृदय में उस समय वैराग्य का प्राबल्य था। अपने हृदय की पुकार को दबा पाने में असमर्थ होकर उन्होंने नौकरी छोड़ दी और गृहत्याग करके अगस्त १८९९ ई. में एक दिन हरिद्वार जा पहुँचे। निरंजन महाराज इन दिनों किराये के एक छोटेसे मकान में रहते थे। केदारनाथ ने उन्हें प्रणाम करते हुए कहा, ''मैं गृहत्याग करके श्रीठाकुर के चरणों में आश्रय पाने की आशा से आपके पास आया हूँ।'' इस पर निरंजन महाराज ने अत्यन्त आनन्दित होकर उन्हें वहाँ रख लिया और गेरुआ वस्त्र देते हुए उन्हें माधुकरी तथा ठाकुरसेवा आदि साधुसुलभ बातें सिखा दीं।

केदारनाथ के आने के कुछ समय बाद स्वामी निरंजनानन्द का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया और उन्हें विवश होकर चिकित्सा के लिए कलकत्ता जाना पड़ा। लगभग ढाई महीने बाद भी शरीर नीरोग न होने पर उन्होंने केदारनाथ को लिखा, ''मेरा स्वास्थ्य बहुत ही खराब है और सेवा-शुश्रूषा आदि की असुविधा हो रही है। तुम आ जाओ तो अच्छा रहे।'' पत्र पाते ही केदारनाथ अविलम्ब उनके पास आ गये। उन दिनों निरंजन महाराज भवानीचरण दत्त लेन में मास्टर महाशय के एक किराये के मकान में निवास कर रहे थे। स्वामी ब्रह्मानन्द आदि गुरुभ्रातागण प्रायः वहाँ जाकर उनकी चिकित्सा आदि की व्यवस्था देखा करते थे। यह बीमारी काफी दिनों तक रही। एक बार तो उनका प्राण-संशय तक उपस्थित हुआ था।

कलकत्ता पहुँचकर केदारनाथ अनन्यमन से अकेले ही दिन-रात निरंजन महाराज की सेवा-शुश्रूषा करने लगे। कुछ दिन बाद आवश्यकता महसूस होने पर मठ से स्वामी बोधानन्द को भेजा गया। परन्तु थोड़े ही समय के भीतर दोनों अस्वस्थ होकर बेलुड़ मठ लौटने को बाध्य हुए। इसके बाद स्वामी प्रेमानन्द ने सेवा का उत्तरदायित्व लिया। इस समय अखिल मिस्त्री लेन में किराये का एक दूसरा मकान लेकर निरंजन महाराज को वहाँ स्थानान्तरित किया गया। एक भक्त ने उस मकान का भाड़ा तथा चिकित्सा-पथ्य आदि का सारा व्यय वहन करना सहर्ष स्वीकार किया। केदारनाथ ने केवल तीन-चार दिन ही मठ में बिताये थे, स्वामी निरंजनानन्द के बुलावे पर वे पुनः उनकी शय्या के निकट पहुँच गये। परन्तु सम्भवतः इस कारण उनका दुर्बल शरीर अस्वस्थ हो गया और वे काशी लौटने को विवश हुए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपनी मानसिक अशान्ति का उल्लेख करते हुए निरंजन महाराज को एक पत्र

लिखा, जिसके उत्तर में उन्होंने अत्यन्त उत्साह देते हुए लिखा – "जयरामवाटी में श्रीमाताजी के पास जाओ, वहीं पर मेरे साथ मुलाकात होगी।" निरंजनानन्दजी को आशा थी कि वे शीघ्र ही स्वस्थ हो जाएँगे। परन्तु स्वास्थ और भी बिगड़ जाने के कारण उनका जयरामवाटी जाना न हो सका। अस्तु, सब के सम्मिलित प्रयास तथा ठाकुर की कृपा से उस बार वे स्वस्थ हो उठे।

स्वामीजी के द्वितीय बार (दिसम्बर, १९०० ई. में) अमेरिका से लौटने पर निरंजनानन्द को पुनः उनके सान्निध्यलाभ का सुयोग प्राप्त हुआ जिससे वे अत्यन्त आनन्दित हुए। १९०२ ई. में जब स्वामीजी काशीधाम में निवास करने गये, तब उन्होंने उनके लिए कालीकृष्ण ठाकुर के प्रासादतुल्य भव्य भवन में रहने की व्यवस्था की। इसके कुछ दिन पहले प्रसिद्ध जापानी शिल्पी ओकाकुरा भारत आये थे और स्वामीजी के समीप भारत के प्राचीन स्थानों को देखने की अभिलाषा प्रकट की थी। स्वामीजी ने निरंजन महाराज को उनके साथ कर दिया और ओकाकुरा उनके साथ बुद्धगया, आगरा, ग्वालियर, अजन्ता आदि दर्शनीय स्थानों का दर्शन करने गये। ओकाकुरा निरंजन महाराज के सरल व्यवहार पर अत्यन्त मुग्ध हुए थे तथा स्वामीजी को लिखे एक पत्र में उनकी विपुल प्रशंसा की थी।

१९०२ ई. फरवरी के अन्त में स्वामीजी वाराणसी में अत्यन्त अस्वस्थ हो गये। अतः शिवानन्दजी के साथ निरंजनानन्द उन्हें बेलुड़ मठ ले आये। मठ में आकर सेवा में रत निरंजनानन्द सिर पर पगड़ी बाँधे, हाथ में लाठी लेकर स्वामीजी के द्वार पर प्रहरी का कार्य किया करते थे। इसमें उन्हें विशेष गौरव की अनुभूति होती थी। इसी सेवाकाल में घटी एक मजेदार घटना से उनकी विनोदप्रियता की झलक मिलती है। एक दिन स्वामीजी के एक ब्रह्मचारी शिष्य मायावती से आये और स्वामीजी के दर्शन करने की अनुमति माँगी। द्वार पर खड़े निरंजन महाराज उन्हें पहचान न सके तथा भीतर नहीं जाने दिया। परन्तु बुद्धिमान् ब्रह्मचारी इस पर निराश नहीं हुए। बातचीत होती रही। इसी बीच कुछ मौका देख वे द्वारपाल के पैरों के बीच से निकल गये और जाकर स्वामीजी के चरणों में प्रणत हुए। निरंजन महाराज को स्वामीजी से उन ब्रह्मचारी का परिचय मिला। वे उन ब्रह्मचारी पर रुष्ट न होकर उनके द्वारा अवलम्बित उपाय पर खूब हँसे।

इसी समय की एक दूसरी घटना से उनकी निःस्पृहा और चारित्रिक दृढ़ता का परिचय मिलता है। स्वामीजी जब वाराणसी में थे, उसी समय कलकत्ते के एक सज्जन ने काशी में एक शिवमन्दिर का निर्माण कराया। संवाद पाकर स्वामीजी ने ऐसा विचार प्रकट किया कि वे यदि दुःखी-पीड़ितों के लिए कुछ करते तो उन्हें एक हजार मन्दिर-निर्माण का फल प्राप्त होता। लोगों से स्वामीजी का यह मत सुनकर उन्होंने वहाँ के 'पूअर मेन्स रिलीफ एसोसियेशन' (जो बाद में रामकृष्ण

मिशन सेवाश्रम के रूप में परिणत हुआ) को बहुत बड़ी आर्थिक सहायता देने का वचन दिया। परन्तु कुछ समय बीतने पर उनका उत्साह ढीला पड़ गया और उन्होंने वचन दी हुई राशि को घटाकर बहुत कम धन देना चाहा। इस पर तनिक भी आगा-पीछा न करते हुए निरंजन महाराज ने इस प्रतिज्ञाभंग करनेवाले व्यक्ति का दान अस्वीकार कर दिया।

माँ श्रीसारदादेवी के प्रति निरंजनानन्द की श्रद्धा अनुपम थी। इसका उल्लेख करते हुए एक बार स्वामी विवेकानन्द ने एक पत्र में अपनी अपूर्व भाषा में लिखा है – "निरंजन लट्ठबाजी करता है, परन्तु माँ के प्रति उसकी बड़ी भक्ति है। उसकी लाठी हजम हो जाती है।" वस्तुतः इस दुस्साहसी व्यक्ति का हृदय कितना कोमल था, श्रद्धा-भक्ति से कितना परिपूर्ण था, यह बाहर से कोई समझ नहीं पाता था। अपने अनन्त भाव संसार के समक्ष प्रकट करने के लिए ठाकुर अपने जिन अन्तरंगों को लाये थे, उनमें से प्रत्येक का चरित्र लोकातीत तथा विस्मयकारी था। अतः बाह्यतः कठोर-हृदय निरंजन महाराज के हृदय में कहाँ कौनसा दुर्लभ दिव्य भाव छिपा पड़ा था, यह हम भला कैसे समझें? उनकी मातृभक्ति की किंचित् झलक कवि गिरीशचन्द्र के वार्तालाप में मिलती है। उन दिनों अनेक भक्त माताजी को केवल गुरुपत्नी के रूप में ही जानते थे – वे तब भी अधिकांश लोगों के हृदय में जगदम्बा के रूप में आविर्भूत नहीं हुई थीं। इन्हीं दिनों एक दिन कोई भक्त श्री दानाकाली के घर गये। वहाँ पर ठाकुर के तो विविध प्रकार के चित्र थे पर माताजी का कोई चित्र नहीं था। यह देखकर भक्त ने इसका कारण पूछा तो दानाकाली ने ठाकुर की ओर इंगित किया और कहा, "ये ही मेरी माता है, ये ही मेरे पिता हैं।" इन भक्त ने जब इस घटना का गिरीशचन्द्र के सामने वर्णन किया तो वे बोले, "मैं भी क्या शुरू में मानता था? – निरंजन ने ही मेरी आँखे खोल दीं।" वास्तव में उस समय कोई कोई माँ के स्वरूप से अवगत रहने पर भी अपने भाव को मन ही में छिपाये रखते थे – व्यक्त रूप से उसका प्रचार नहीं करते थे। परन्तु निरंजन महाराज सारी गुप्तता छोड़कर भक्तों के बीच माताजी की महिमा का बखान करते रहते थे और आवश्यकता प्रतीत होने पर युक्ति-तर्क का सहारा लेकर भी लोगों को अपने मत में ले आते थे। गिरीशचन्द्र जब पुत्रशोक से अत्यन्त विह्वल हो कोई सहारा नहीं पा रहे थे, तब निरंजन महाराज ने ही उन्हें इस रामबाण औषधि का पता दिया। वे स्वयं ही उन्हें साथ लेकर जयरामवाटी गये तथा मातृभवन में निवास किया। गिरीशबाबू को जयरामवाटी ले जाते समय, स्वामी सुबोधानन्द, ब्रह्मचारी कनाई, हरिपद आदि भी स्वामी निरंजनानन्द के संग गये थे और उन्होंने आनन्दपूर्वक सभी के लिए सारी व्यवस्था का उत्तरदायित्व लिया था। वे लोग वर्धमान के रास्ते से उचालन और कामारपुकुर होते हुए जयरामवाटी पहुँचे। फिर पन्द्रह-सोलह दिन वहाँ बिताने

के बाद और सभी लोग लौट आये, पर गिरीशबाबू तथा निरंजन महाराज वहाँ और भी कुछ दिन ठहर गये।

स्वामीजी के देहत्याग के पश्चात् निरंजन महाराज अधिक दिन इस धराधाम पर नहीं रहे। बेलुड़ मठ तथा कलकत्ता में निवास करते समय उनकी पेचिश की पुरानी बीमारी बढ़ गयी तथा उन्होंने हरिद्वार जाने का निश्चय किया। यात्रा के पूर्व माताजी के प्रति उनकी भक्ति सैकड़ों प्रकार के हिलोरें लेने लगी। कोई भी इसका कारण समझ न सका। सम्भवत: उन्हें अपने हृदय में चिरविदाई की पुकार सुनाई दे रही थी, और उसी का यह अल्पाधिक बाह्य प्रकाश था। माँ के हाथ का पका भोजन, माँ के हाथ से आहार – इस प्रकार सभी कार्यों के लिए वे माँ की बाट जोहते रहते थे – मानो माँ का असहाय पुत्र माँ को छोड़ और किसी को नहीं जानता। अन्तिम समय जब वे विदा लेने को आये, तब तो धैर्य का बाँध बिलकुल ही टूट पड़ा – निरंजन महाराज एक अबोध शिशु की तरह माँ के चरणों में लोटते हुए अधीर भाव से क्रन्दन करने लगे। आह! क्या ही करुण था वह अनुनय-विनय! क्या ही अद्भुत थी वह माँ के श्रीचरणों में आकुल प्रार्थना! फिर वे धीरे धीरे चले गये – अन्तर में समझ लिया कि यही अन्तिम बिदाई है।

हरिद्वार पहुँचकर निरंजनानन्द ने एक किराये के मकान में आश्रय लिया और तपस्या में रत हो गये। स्वास्थ्य में सुधार की जगह अवनति ही होने लगी। उन्हें अतिसार तो था ही, अब अचानक विसूचिका के लक्षण भी दीख पड़े। इस प्राणघाती रोग में ही इन वीर भक्त ने ९ मई १९०४ ई. को जगदम्बा की गोद में चिरकाल के लिए आँखें मूँद लीं। यह दृश्य एक ओर जैसा हृदय-विदारक है, दूसरी ओर वैसा ही वैराग्य-मण्डित। पुण्यसलिला भागीरथी के तट पर उन्होंने अपनी अन्तिम शय्या बनायी थी। अन्तिम क्षण उनके सान्निध्य-लाभ तथा सेवा की अनुमति के लिए सेवक ने कितना ही अनुरोध किया, परन्तु नि:संग संन्यासी का मन तब मानो सप्तम सुर में बँधा हुआ था, और उन्हें स्मरण आ रही थी गीता की वाणी – 'अरतिर्जनसंसदि' – जनसमाज के प्रति विरक्ति! अत: उन्होंने सेवक को अनुमति नहीं दी। इतना ही नहीं सेवक जब आदेश का उल्लंघन कर उनकी ओर अग्रसर होने लगा तो उसे रोकने के लिए जाने कहाँ से उनकी रुग्ण देह में मानो अमित बल का संचार हो गया; उनके दोनों नेत्रों से तेज निकलने लगा और वे नाराजगी के स्वर में कह उठे, "क्या मुझे निश्चिन्ततापूर्वक मरने भी न दोगे?" भयभीत होकर सेवक चले गये। वे जब पुन: आये तब तक अंजनरहित, बन्धनविहीन नित्यनिरंजन सभी जागतिक सम्बन्धों से मुक्त होकर चिरसमाधि में विलीन हो चुके थे!

□□□

स्वामी शिवानन्द

स्वामी शिवानन्द ने जिस ब्राह्मण वंश में जन्म लिया था वह भूकैलास के राजवंश से सम्बन्धित था तथा उनकी भी घोषाल उपाधि थी। उनके पिता श्रीयुत रामकनाई घोषाल ने मुखत्यारीकी परीक्षा पास करके बारासात में कानून का काम प्रारम्भ किया। उसमें ख्याति तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के फलस्वरूप वे रानी रासमणि के मुख़त्यार नियुक्त हुए। कलकत्ते से जैसोर जाने के मुख्य मार्ग में रानी का एक छोटासा कचहरी-भवन था। घोषाल महाशय उसी मकान में सपरिवार रहते थे और उसी मकान में १६ नवम्बर १८५४ ई. (कार्तिक, कृष्णा एकादशी तिथि) बृहस्पतिवार को ११ बजकर १० मिनट पर स्वामी शिवानन्द ने जन्म ग्रहण किया। आपका पूर्वनाम तारकनाथ घोषाल था। पिता रामकनाई और माता वामासुन्दरी बहुत समय तक पुत्र का मुख देखने से वंचित रहे थे। इस कारण वे तारकेश्वर महादेव के शरणागत होकर व्याकुलतापूर्वक एक वर्ष से अधिक काल तक पुरश्चरण, उपवास तथा प्रार्थना आदि करते रहे। अन्त में, एक दिन वामासुन्दरी देवी ने स्वप्न में देखा कि बाबा तारकनाथ सामने प्रकट होकर कह रहे हैं, "मैं तुम लोगों की भक्ति से सन्तुष्ट हूँ – तुम सुपुत्र की माँ बनोगी।" तारकेश्वर की कृपा से प्राप्त सन्तान का नाम तारक हुआ, और घर में दुलार का नाम हुआ फुनू। ज्योतिषियों ने जन्मपत्रिका बनाने के बाद बताया कि जातक के पचीस-छब्बीस वर्ष की आयु में संन्यासयोग है, और यदि किसी तरह घर में रह ही जाए तो वह राज-सम्मान का अधिकारी होगा।

तारक के पिता देवी के भक्त थे। वे तन्त्रमत के अनुसार घर में ही पंचमुर्ण्डी आसन की स्थापना करके नियमित रूप से उपासना किया करते थे। विशेष तिथियों पर विशेष पूजा में बहुतसे लोग आमन्त्रित होकर उनके घर में प्रसाद ग्रहण करते थे। कभी कभी सुदूर प्रान्तों के साधकगण भी आकर घोषाल-भवन का आतिथ्य स्वीकार करते थे। घोषाल महाशय एक ओर जैसे विपुल धन अर्जित करते थे वैसे ही दूसरी ओर खुले हाथों व्यय भी किया करते थे। वे बारासात के उच्च अंग्रेजी विद्यालय के सेक्रेटरी थे तथा विद्यालय के पच्चीस-तीस विद्यार्थियों को अपने घर में रखकर पढ़ाते थे। तारक की माता वामासुन्दरी देवी बड़ी धर्मपरायण तथा शान्त स्वभाव की थीं। वे अत्यन्त सुन्दरी थीं। विद्यार्थियों तथा पूरे परिवार के लिए भोजन पकाने आदि का काम वे स्वयं ही करती थीं – रामकनाई रसोइया ब्राह्मण रखने की इच्छा व्यक्त भी

करते तो वे राजी नहीं होती थीं। तारक भी उन पच्चीस-तीस लड़कों की ही तरह रहा करते थे। यदि कोई पड़ोसिन कभी कुछ शिकायत करती – "लड़के का जरा भी ख्याल नहीं रखती", तो वे उत्तर देतीं – "लड़का उनका है, मेरा नहीं। उन्होंने दया करके दिया है, वे ही उसकी देखभाल करेंगे।" भक्तिमती माँ अपने दुलारे तारक को तारकनाथ के हाथों सौंपकर निश्चिन्त मन से दैनन्दिन कार्यों में मग्न रहा करती थीं।

कामकाज के सिलसिले में घोषाल महाशय दक्षिणेश्वर भी जाया करते थे। वहाँ वे गंगास्नान के पश्चात् लाल रेशमी धोती पहनकर माँ के मन्दिर में ध्यान करते थे। उनका शरीर लम्बा चौड़ा और गौरवर्ण था। वक्षःस्थल सदा लाल रहता था – देखकर लगता मानो साक्षात् भैरव हों। उनके साथ एक गायक रहा करते थे। वे जब ध्यान में तन्मय रहते उस समय गायक पीछे बैठकर देहतत्त्व तथा कालीविषयक भजन गाते रहते थे और साथ ही ध्यानमग्न साधक के कपोल आँसुओं से भीग जाते थे। वे जब मन्दिर से बाहर निकलते थे तो भय से कोई उनके सामने नहीं आता था। दक्षिणेश्वर आते-जाते उनका श्रीरामकृष्ण के साथ परिचय हुआ। साधनकाल में जब श्रीरामकृष्ण की देह में असह्य दाह उत्पन्न हुआ था, तब घोषाल महाशय ने सब कुछ सुनकर उन्हें इष्टकवच (तावीज) धारण करने की सलाह दी थी। यह कवच धारण करते ही ठाकुर का गात्रदाह बिलकुल कम हो गया।

साधक पिता और धर्मप्राण माता का एकमात्र लाड़ला तारक कस्बे की ग्रामसुलभ हरियाली के बीच खुले आकाश के नीचे खेलते हुए घूमा करते थे। खेल में वे पिता के सन्दूक में से रुपये-पैसे निकालकर तालाब के पानी में फेंकते जाते और आनन्द से ताली बजाते हुए नाचते थे। उन्हें जलेबी का बड़ा शौक था, अतः पिता दुलारे पुत्र के लिए थाली के आकार की बड़ी जलेबी बनवाकर ले आते थे। कुत्ते से उन्हें बड़ा प्रेम था – रात को सोते समय भी वह उनके साथ रहा करता था। गाजन* के पद उन्हें कण्ठस्थ थे और गाजन के संन्यासियों को हराना उनका एक अद्भुत शौक था। संन्यासियों को आते देख वे रास्ते में रेखा खींचकर पद गाने लगते थे। व्रत के नियमानुसार उस रेखा को लाँघ न सकने के कारण उन संन्यासियों को हार मानते हुए काफी चिरौरी-बिनती करनी पड़ती, तब कहीं उन्हें छुटकारा मिलता।

तारक की प्राथमिक शिक्षा का प्रारम्भ बारासात के मिशनरी स्कूल में हुआ था। वहाँ थोड़े दिन अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने उच्च अंग्रेजी विद्यालय में प्रवेश लिया। वे भावुक प्रकृति के थे और मेधावी होते हुए भी उनकी पढ़ाई में रुचि नहीं थी। सुन-सुनकर उन्होंने बहुतसे भजन सीख लिये थे। मधुर-कण्ठ बालक के मुख से काली के भजन सुनकर लोग मुग्ध हो जाते थे।

* गाजन बंगाल का एक लोकोत्सव है, जो चैत्र संक्रान्ति के दिन पूर्ण होता है। इसमें गाँव के कुछ विशिष्ट लोग प्रायः एक मास पहले से व्रत लेकर संन्यासी के वेश में घूमते हुए शिवजी के नाम पर भिक्षा माँगते हैं।

तारक जब नौ वर्ष के थे तभी उन्हें माता का वियोग सहना पड़ा। तीन महीने की छोटी बच्ची को छोड़कर माँ के परलोक सिधारने पर बालक के कोमल हृदय को भीषण आघात लगा। बहन की देखभाल में मन लगाने के फलस्वरूप उस शोक का थोड़ा शमन हुआ। कुछ वर्ष बाद पिता ने पुनः विवाह कर लिया और अब नयी माँ ने ही बहन के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व ले लिया। परन्तु वामासुन्दरी देवी गृहलक्ष्मी थीं, अतः उनके निधन के पश्चात् घोषाल महाशय की आमदनी बहुत कम हो गयी। दानपरायण घोषाल महाशय धन न जोड़ सके थे, अतः परिवार में धीरे धीरे धनाभाव के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे।

माँ का स्वर्गवास हो जाने के बाद से तारकनाथ छुट्टियों में निमता ग्राम में बड़े मामा के पास चले जाते थे। मामी का उन पर बड़ा स्नेह था। तारक कभी कभी अपने पैतृक ग्राम भी चले जाते थे। इन भावी महापुरुष का ध्यानपरायण जीवन इस गाँव में बहुत कुछ विकसित हुआ था। शान्त ग्राम के विशाल तालाब के किनारे एकाकी बैठकर वे उदास मन से भजन गाते और अनन्त आकाश की ओर निहारते हुए कितनी ही बातें सोचते रहते थे। ग्राम का प्राकृतिक सौन्दर्य, आकाश की असीमता और प्रकृति की निःस्तब्धता इन भावी महापुरुष के लिए ध्यान की सामग्री जुटाया करती थी।

तारकनाथ जब चौदह वर्ष के थे, तब मलेरिया के भीषण प्रकोप से उनके जीवन का संशय उपस्थित हुआ। नीरोग होने पर वे वायु-परिवर्तन के लिए अन्यत्र चले गये। एक वर्ष से भी अधिक समय के बाद स्वस्थ होकर बारासात लौटे और पुनः पढ़ाई-लिखाई में लग गये। इस समय लगभग एक वर्ष के भीतर ही परिवार में हुई दो दुःखद घटनाओं से व्यथित हुए थे। उनकी बड़ी दीदी चण्डादेवी दो बच्चों की माँ बनने के बाद अकाल ही दिवंगत हो गयीं और मझली दीदी क्षीरोदा भी बालविधवा होकर पिता के घर लौट आयी। नौ वर्ष की आयु से ही उनके जीवन में इस प्रकार एक के बाद एक दुःख आते गये जिसके परिणामस्वरूप उनके शुद्ध मन में स्वाभाविक रूप से ही वैराग्य का संचार हुआ। स्वभाव से ही अन्तर्मुख तारकनाथ अब हृदय के और भी अन्तरतम प्रदेश में डूबकर प्राणदेवता का अमृत-स्पर्श पाने के लिए व्याकुल हुए। प्रवेशिका श्रेणी में पढ़ते हुए, इस अन्तर्द्वन्द्व के गुरुभाव से पीड़ित होकर एक दिन वे अचानक तीर्थ-भ्रमण को निकल पड़े। स्कूली शिक्षा की यहीं समाप्ति हुई, पर स्वावलम्बी तारकनाथ ने अपने ही पैरों पर खड़े होने की इच्छा से रेलवे में नौकरी कर ली। इस नौकरी के सिलसिले में कुछ वर्ष उन्हें उत्तर भारत के गाजियाबाद, मुगलसराय आदि स्थानों में भी रहना पड़ा था। उस समय के अपने मनोभाव के बारे में उन्होंने स्वयं ही कहा था – "बचपन से ही संसार अच्छा नहीं लगता था। मन में धर्मभाव था और हृदय में दृढ़ निश्चय था कि विवाह

करके में कदापि आबद्ध न होऊँगा। देशभ्रमण तथा विविध तीर्थों का दर्शन करते हुए घूमने की इच्छा भी सम्भवत: जन्मजात थी। रेलवे में नौकरी करते हुए भी मन ही मन भगवान् को पुकारता रहता था।''

बाल्यकाल से ही तारकनाथ कालीमाता के भक्त थे, परन्तु उनके मन में सदा विचार आता था – ''विराट् भगवान् का इस छोटीसी मूर्ति में बद्ध होकर रहना कैसे सम्भव है?'' चाँदनी रात में आकाश की ओर अथवा अन्धकार में नक्षत्रपुंज की ओर ताकते हुए वे अपने आपको एक निराकार सर्वव्यापी सत्ता में विलीन कर देना चाहते थे। आकाश में जब मेघ घिर जाते तो उनके पीछे भी उन्हें उसी अव्यक्त असीम का आभास मिलता था। गाजियाबाद में रहते समय वे एकतारा लिए अकेले में मग्न होकर भजन गाया करते थे। रेलवे के जिन अधिकारी के घर पर वे निवास करते थे उनका अचानक निधन हो गया। भावुक तारकनाथ मृतक के अन्तिम संस्कार करके घर लौट आये और उदास हृदय से गाने लगे – ''हे दयाघन! तुम्हारे समान हितकारी दूसरा कौन है? सुखदु:ख में समान रूप से साथ देनेवाला तथा शोक, ताप, भय का नाश करनेवाला दूसरा कौन ऐसा मित्र है?'' इत्यादि। भजन के भाव का कुछ उपशम होने पर उन्होंने विस्मयपूर्वक देखा कि घर में वे एकाकी ही बच रहे हैं – घर के और सभी लोग कहीं अन्यत्र जा चुके हैं। तदुपरान्त तारक जब मुगलसराय में थे, तब भी वे इसी प्रकार एकान्त चिन्तन में दिन बिताया करते थे। वस्तुत: यह उनका स्वभाव ही था। उनके अन्तर्मुख मन ने उसी समय निश्चय कर लिया कि इस पंचेन्द्रियग्राह्य जगत् के पीछे जो सत्यं-शिवं-सुन्दरम् विद्यमान हैं, एकमात्र वे ही वरणीय है। फिर उनके मन में यह प्रश्न भी उठा करता था कि समाधि क्या है। शिव की समाधिमग्न मूर्ति तथा बुद्ध की ध्यानमूर्ति उन्हें बहुत अच्छी लगती थी। मुगलसराय में तारक की समाधिस्पृहा देखकर उनके मित्र प्रसन्नबाबू ने एक दिन उनसे कहा – ''समाधि बड़ी दुर्लभ चीज है। दक्षिणेश्वर के परमहंसदेव ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें ठीक ठीक समाधि होती है।'' यह सुनने के बाद से तारक अवसर की प्रतीक्षा करने लगे, पर वह सुयोग आने में अभी ढाई वर्ष की देर थी।

मन जब इस प्रकार उच्च स्तर की ओर प्रवाहित हो रहा था, तभी पिता की ओर से प्रस्ताव आया कि विवाह करना होगा। पहले भी विवाह की चर्चा हुई थी पर तारक ने अनायास ही उसे नकार दिया था। किन्तु इस बार का प्रस्ताव एक जटिल समस्या के रूप में आया था। आर्थिक अभावग्रस्त रामकनाई बाबू कन्या नीरदा के विवाह के लिए चिन्तित थे। अत: वे विवश होकर इस प्रस्ताव पर सहमत हो गये कि नीरदा जिस घर में ब्याही जाएगी, तारक को उनकी एक कन्या से पाणिग्रहण करना होगा। वरपक्ष से बात निश्चित हो गयी थी। इस विनिमय-विवाह को छोड़कर दूसरा कोई उपाय नहीं था। तारक भारी चिन्ता में पड़ गये। इस दुलारी मातृहीन बहन

का उन्होंने कितने स्नेह-यत्न से लालन-पालन किया था – आज क्या उसके प्रति उनका कोई भी कर्तव्य नहीं है? अन्य कोई चारा न देखकर वे सहमत हुए और यथासमय दोनों विवाह सम्पन्न हुए। महेश्वरपुर ग्राम के पंचानन चट्टोपाध्याय की सर्व-सुलक्षणा कन्या नित्यकाली देवी ने घोषाल-भवन में पुत्रवधू के रूप में प्रवेश किया।

इसी बीच कलकत्ते के मैकिनन मैकेंजी के दफ्तर में एक जगह खाली हुई। तारकनाथ ने मित्रों की सलाह पर वहाँ नियुक्ति ले ली तथा कलकत्ते में एक सम्बन्धी के यहाँ रहने लगे। यह मकान केशव सेन के 'लिली काटेज' (कमल कुटीर) के निकट अवस्थित होने के कारण तारकनाथ नियमित रूप से ब्राह्मसमाज में आने-जाने लगे तथा उपासना आदि में भाग भी लेने लगे। परन्तु समाज की नियमबद्ध उपासना से उन्हें तृप्ति नहीं होती थी – उन्हें यह बिलकुल उथला सा प्रतीत होता था। अत: रात को घर लौटकर वे अश्रुपात करते हुए ईश्वर के समक्ष अपनी हार्दिक आकुलता व्यक्त करते थे – ''हे प्रभो, मुझे सही मार्ग दिखाओ।'' छुट्टियों में वे घर जाते थे, परन्तु नित्यकाली देवी के भरण-पोषण के अतिरिक्त अन्य कोई भी उत्तरदायित्व स्वीकार नहीं करते थे। परिवार के एक संकटकालीन क्षण में विवाह करके उन्होंने अपना कर्तव्य-पालन किया था, किन्तु वे अपना आदर्श नहीं त्याग सकते थे। उन्होंने सहधर्मिणी को अपना मनोभाव बतला दिया था। वे स्वयं को सारे मायिक सम्पर्कों से मुक्त रखते थे।

तारकनाथ जिन सम्बन्धी के घर में निवास करते थे, वे थोड़े दिनों बाद अपना मकान बदलकर शिमला मुहल्ले में रामचन्द्र दत्त के मकान के निकट चले आये। तारक भी वहीं आकर रहने लगे। १८८० ई. के अन्तिम भाग में एक दिन रामबाबू के मकान पर परमहंसदेव के शुभागमन का संवाद पाकर तारक वहाँ उपस्थित हुए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि कमरा लोगों से भरा हुआ है और सभी उत्सुक होकर ठाकुर के वचनामृत का पान कर रहे हैं। भीड़ के बीच से होकर वे आगे बढ़े और देखा कि ठाकुर भावावस्था में है तथा अस्फुट स्वर में पूछ रहे हैं, ''मैं कहाँ हूँ?'' किसी ने कहा, ''राम के घर में।'' ठाकुर ''ओहो'' कहकर चुप हो गये। कुछ देर चुप रहने के बाद वे समाधि-तत्त्व का वर्णन करने लगे। तारक का मन आनन्द से नाच उठा – जिस चीज को जानने का उनके मन में इतना आग्रह था, आज प्रत्यक्ष अनुभूतिसम्पन्न ठाकुर के आचरण तथा वाणी द्वारा उसी का सविस्तर ज्ञान प्राप्त हुआ। वार्तालाप की समाप्ति पर तारक जब घर लौटने लगे तो रामबाबू ने उन्हें रोक लिया और आग्रहपूर्वक प्रसाद ग्रहण कराया।

देवमानव के प्रथम दर्शन पर ही तारकनाथ का मन-प्राण उनके चरणों पर न्यौछावर हो गया। वे उनके पुन: दर्शन के लिए व्याकुल हुए और दक्षिणेश्वरवासी अपने एक सहकर्मी से परामर्श करके शनिवार को दफ्तर में छुट्टी होने पर वहाँ

जाने का निश्चय किया। नाव में दक्षिणेश्वर पहुँचकर प्रथम वे मित्र के मकान पर गये, फिर शाम को कालीमन्दिर पहुँचे। सूर्य अस्त होने के साथ ही उद्यान में अन्धकार की तरल छाया सर्वत्र फैलने लगी – मानो अज्ञात कोई धीर पदक्षेप के साथ बढ़ा चला आ रहा हो। ठाकुर पश्चिम ओर के गोल बरामदे में खड़े गंगा की ओर ताकते हुए मानो किसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। तारक ने आकर आवेगपूर्वक प्रणाम किया। ठाकुर ने स्नेहपूर्वक पूछा, "क्या तुमने मुझे पहले कहीं देखा है?" तारक ने रामबाबू के मकान पर हुए दर्शन की बात कही। ठाकुर ने रामबाबू का कुशल-मंगल पूछा, फिर तारक को साथ ले कमरे में प्रवेश कर छोटे तखत पर बैठ गये। ठाकुर को देखते ही तारक को लगा मानो वे 'माँ' हैं; मन में यह विचार ही नहीं उठा कि वे पुरुष हैं या नारी। कमरे में प्रवेश करते ही साक्षात् मातृबुद्धि से उन्होंने ठाकुर की गोद में अपना सिर रखकर पुनः प्रणाम किया और ठाकुर भी उनके सिर पर हाथ फेरने लगे – मानो वे उनके कितने अपने हों! ठाकुर के नेत्रों से करुणा का भाव झर रहा था। इसी समय सभी मन्दिरों से घण्टे-घड़ियाल बज उठे और आरती होने लगी। ठाकुर भावाविष्ट हो लड़खड़ाते हुए मन्दिर की ओर चले। तारक ने भी यन्त्रचालित के समान उनका अनुसरण किया। ठाकुर ने पूछा, "तुम साकार मानते हो या निराकार?" तारक ने उत्तर दिया, "मुझे निराकार ही अच्छा लगता है।" ठाकुर ने केवल इतना ही कहा, "शक्ति को मानना चाहिए।" मन्दिर में पहुँचकर ठाकुर ने कालीमाता को प्रणाम किया। तारक के ब्राह्म संस्कार ने पहले तो बाधा दी, परन्तु युक्ति के यह समझा देने पर कि ब्रह्म यदि सर्वव्यापी हैं तो प्रतिमा में क्यों न होंगे, उन्होंने भी श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया। प्रणाम के पश्चात् ठाकुर अपने कमरे में लौट आये। तारक जब विदा लेने लगे तो ठाकुर ने उनसे रात को वहीं रह जाने का अनुरोध किया। पर तारक ने कहा कि पहले से ही उनके मित्र के घर उनके रहने की व्यवस्था हो चुकी है। इस पर ठाकुर ने प्रसन्नवदन से अनुमोदन किया – "वचन का पालन करना चाहिए – सत्यवचन कलिकाल की तपस्या है।" थोड़ी देर मौन रहकर वे पुनः बोले, "ठीक है, कल आना।"

तारक के मन-प्राण श्रीरामकृष्ण के चरणों में अर्पित हो चुके थे। लोकव्यवहार के नाते दूसरे दिन दोपहर तक का समय किसी प्रकार मित्र के घर पर बिताने के बाद, सन्ध्या के पूर्व श्रीरामकृष्ण के समीप पुनः आये। ठाकुर ने उनका स्नेहपूर्वक स्वागत किया। तथा रात में उन्हें अच्छी तरह प्रसादी पूरियाँ आदि खिलाने के पश्चात् दक्षिण के बरामदे में सोने की व्यवस्था कर दी। हर्षातिरेक से तारक को उस रात नींद न आयी। आधी रात को उन्होंने देखा कि भाव में विभोर ठाकुर दिगम्बर हो टहल रहे हैं और मन ही मन कुछ कह रहे हैं। फिर बरामदे में आकर उन्होंने अस्पष्ट वाणी में कहा "अजी, सो गये क्या?" तारक तुरन्त ही उठ बैठे और कहा, "नहीं

महाराज, सोया नहीं।" आदेश मिला – "थोड़ा रामनाम सुनाओ ना।" तारक रामनाम गाने लगे। इस प्रकार दिव्य आवेश में रात बीत गयी। प्रातःकाल तारक विदा लेने लगे तो ठाकुर ने कहा, "फिर आना – अकेले।"

आगामी दर्शन के समय ठाकुर ने और भी कृपा की। उस दिन उन्होंने अपने चरण अचानक ही तारक के वक्ष पर रख दिये और इस दिव्यस्पर्श के द्वारा उन्हें एक इन्द्रियातीत अनुभूति के राज्य में ले गये। तारक को यह पता ही न चला कि वे कितनी देर तक बाह्यज्ञानशून्य रहे। जब चेतना आयी तो उन्होंने देखा कि ठाकुर उनके सिर पर हाथ फेरते हुए कह रहे हैं। "माँ उतर आओ, उतर आओ।" उस स्पर्श से तारक को उस दिन ठीक ठीक अनुभूति हुई कि वे शाश्वत चिरमुक्त आत्मा हैं, और ठाकुर सनातन आदिकारण ईश्वर हैं जो जगत् के कल्याणार्थ नरदेह धारण कर अवतीर्ण हुए हैं।

अनुभूति के द्वारा ठाकुर को इस प्रकार जानने पर भी दैनन्दिन व्यवहार में दोनों के बीच माता-पुत्र का सम्बन्ध था। 'वचनामृत' में भी इसका आभास मिलता है। एक दिन वचनामृतकार ने वहाँ पहुँचने पर देखा – "तारक को देखकर श्रीरामकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए हैं और उनकी ठुड्डी छूकर दुलार कर रहे हैं।" वस्तुतः दोनों के सहज मिलन के बीच ऐश्वर्य का नाम तक न था। तारक ने आगे चलकर कहा था – "ठाकुर ईश्वर हैं, यह बात अब जितने ही दिन बीतते जा रहे हैं, उतना ही समझ रहा हूँ। पहले तो ठाकुर के स्नेह के आकर्षण से ही उनके पास रहता था। वे भी वैसे ही स्नेह किया करते थे; किसी के अवतार, भगवान् आदि कहने पर नाराज होते थे – इससे अपनापन थोड़ा कम हो जाता है न, इसीलिए।" तारक चाहे जितने भी स्वाधीन, स्वावलम्बी क्यों न रहे हों, और बचपन से ही दुःख से कितने ही अभिज्ञ क्यों न रहे हों, उनका हृदय बड़ा ही कोमल था। कभी कभी उनके मन में ठाकुर के पास खूब रोने की इच्छा होती थी। एक दिन बकुलतला में उन्हें रोते देखकर ठाकुर ने कहा था, "देख, भगवान् के सामने रोने पर उनकी बड़ी दया होती है – मन के जन्म जन्म के दोष अनुराग के अश्रु में धुल जाते हैं।" एक दूसरे दिन पंचवटी में बैठकर ध्यान करते समय ठाकुर को झाऊतला से आते देखकर उन्हें जोर से रोना आ गया, सीने के भीतर गुड़गुड़ाहट होने लगी और शरीर इतना काँपने लगा कि वे सँभाल ही न पाते थे। वस्तुतः कुण्डलिनी-जागरण मानो ठाकुर की मुट्ठी में था – वे बिना स्पर्श किये दूर खड़े ही केवल कृपा-कटाक्ष से वह कर देते थे।

दक्षिणेश्वर में जो लोग ठाकुर के पास रहते थे, उन्हें वे रात में तीन बजे उठाकर ध्यान में बैठाया करते थे। किसी किसी दिन खोल* के साथ कीर्तन होता

* मृदंग की जाति का एक वाद्य जो बंगाल में हरिनामसंकीर्तन के साथ बजाया जाता है।

था। फिर किसी किसी दिन नृत्य होता था – उस समय यदि कोई संकोच के कारण बैठा रहता तो ठाकुर उसे जबरन नचाते। ठाकुर की संगति के फलस्वरूप रात को तीन बजे उठना तारक के लिए इतना स्वाभाविक हो गया था कि जीवन के अन्तिम दिनों में भी उनकी यह आदत बनी रही थी। दक्षिणेश्वर में उन दिनों बहुत डर-डरकर रहना पड़ता था, क्योंकि ठाकुर चाहते थे कि उनके युवक भक्त निरन्तर भगवद्-भाव में विभोर रहें। इस विषय में वे सदा सतर्क रहते थे। रात में उनको नींद अधिक नहीं आती थी। तारक आदि को पुकारकर कहते – "क्यों, तुम लोग यहाँ क्या सोने आये हो? सारी रात यदि सोकर ही बिता दोगे, तो फिर माँ को कब पुकारोगे?" आनेवाले भक्तों में बहुतों को भावावस्था होती देखकर तारक एक दिन ठाकुर से भावसमाधि के लिए जिद करने लगे। ठाकुर बोले, "होगा रे होगा, इतना उतावला क्यों हो रहा है? समय आने पर माँ कृपा करके सब देंगी। पर तुझे मूर्तिदर्शन अभी नहीं होगा, बाद में होगा। तेरी श्रेणी अलग है।" फिर एक दिन ठाकुर ने तारक की जीभ पर अँगुली से न जाने क्या लिख दिया कि साथ ही साथ उनका बाह्यज्ञान लुप्त हो गया। काफी देर बाद ठाकुर उनके सीने पर हाथ फेरते हुए उनकी चेतना लौटा लाये। फिर बड़े प्रेम से मिठाई खिलाते हुए उन्हें साधना के सम्बन्ध में उपदेश दिये। इस भावावस्था का नशा उनमें बहुत दिन तक बना रहा। साधन-भजन के अतिरिक्त ठाकुर उन्हें अन्यान्य विषयों पर भी उपदेश दिया करते थे। उन दिनों तारक शौच आदि के लिए गंगाजल का ही उपयोग करते थे। सुनकर एक दिन ठाकुर ने कहा, "यह क्या रे! गंगावारि ब्रह्मवारि है – उसे भला शौच के लिए लेना चाहिए?" और एक दिन कहा था – "साधु-दर्शन के लिए खाली हाथ नहीं जाना चाहिए, कुछ नहीं तो एक पैसे का पान ही ले जाना चाहिए।" तारक इन उपदेशों का पालन करते थे। इसके अतिरिक्त एक दिन ठाकुर ने तारक का अभिमान दूर करने के लिए उन्हें भिक्षा के लिए भेजा था।

एक बार ठाकुर ने उनसे कहा था – "देखो, यहाँ पर कितने ही लोग आया करते हैं, परन्तु किसका घर कहाँ है, या कौन किसका लड़का है – यह सब मैं किसी से नहीं पूछता और न जानने की इच्छा ही होती है। पर तुझे देखते ही लगा कि तू अपना आदमी है। और यह जानने की इच्छा हो रही है कि तेरा घर कहाँ है, पिता का नाम क्या है, आदि। भला बता तो क्यों?" तारक ने जब अपने पिता का परिचय दिया तो ठाकुर आनन्दित हो बोले, "ओहो! तो तू कनाई घोषाल का लड़का है! इसीलिए तो सोच रहा था कि क्यों माँ ने तेरे घर के बारे में जानने की इच्छा जगायी। ... उन्हें एक बार यहाँ आने को कहना तो!" तारकनाथ ने पिता को जब ठाकुर की इच्छा से अवगत कराया तो वे बड़े आनन्द से दक्षिणेश्वर आये। उनके आते ही ठाकुर ने भावस्थ होकर उनके कन्धे पर अपना एक चरण रख दिया।

घोषाल महाशय ने उनसे आर्थिक अवस्था में सुधार के लिए प्रार्थना की। ठाकुर ने उत्तर दिया, "माँ की इच्छा होने पर ऐसा ही होगा।"

तारक के मन की गहराइयों में उन दिनों एक गम्भीर उथलपुथल मची हुई थी। वे विवाहित थे तथा पत्नी के भरण-पोषण के लिए नैतिक रूप से उत्तरदायी थे, परन्तु उनका मन इस स्वभाव-विरुद्ध कृत्रिम जीवन से पूर्णतया विरक्त था। दफ्तर में काम करते हुए वे अपने प्राणों के आवेग को सँभाल नही पाते, आँखों से अश्रुधार बह निकलती और कागज-पत्र जहाँ-तहाँ छोड़कर वे अचानक नाव द्वारा दक्षिणेश्वर दौड़े चले आते। एक दिन अवसर देखकर तारकनाथ ने अपने विवाह तथा अन्तर्द्वन्द्व की बात ठाकुर से कही। इस पर ठाकुर बोले, "भय क्या है रे – मैं जो हूँ! पत्नी जितने दिन रहेगी, उतने दिन उसकी देखभाल अवश्य करनी होगी! थोड़ा धैर्य रख – माँ सब ठीक कर देगी। बीच बीच में घर जाना और जैसा कह रहा हूँ वैसा ही करना – उनकी कृपा से पत्नी के साथ रहने पर भी तेरी कोई हानि नहीं होगी।" यह कहकर उन्होंने तारक के सीने तथा मस्तक पर हाथ रखते हुए खूब आशीर्वाद दिया। एक अन्य समय उन्होंने तारक से कहा था – "सोने के पहले चित्त लेटकर ऐसा सोचना कि मानो माँ काली सीने के ऊपर खड़ी हैं; ऐसे चिन्तन के फलस्वरूप भक्तिलाभ तथा कामजय होता है।" किसी दूसरे समय ठाकुर ने तारक के मन में अपना मातृभाव भी दृढ़ रूप से अंकित कर दिया था – दक्षिणेश्वर में माताजी के नौबतखाने में रहते समय एक दिन उन्होंने कहा था, "वहाँ मन्दिर मे जो माँ हैं और यहाँ नौबतखाने में जो माँ हैं – दोनों अभिन्न हैं।" स्वभाव से संयमी तारकनाथ उस दिन से स्वयं को देवरक्षित जानकर निर्भय हो गये। आवश्यकतानुसार वे घर जाते और पत्नी के बीमार होने पर उसकी सेवा-शुश्रूषा आदि की भी व्यवस्था करते थे, परन्तु स्वयं सदा अनासक्त ही रहते थे। आगे चलकर इन बातों का उल्लेख करते हुए उन्होंने रोमाँ रोलाँ को लिखा था कि उन्होंने जीवन में कभी पत्नी के साथ एक बिस्तर पर शयन नहीं किया है। अद्भुत गुरु और उनके अद्भुत शिष्य!

तारकनाथ देख-देखकर सीख रहे थे। परन्तु ठाकुर की उन पर तीक्ष्ण दृष्टि थी कि कहीं वे बिना विचार जिस-तिस का अनुकरण न करें। एक बार 'वचनामृत'कार मास्टर महाशय का अनुकरण करते हुए उन्होंने भी ठाकुर के वचन लिखकर रखना प्रारम्भ किया। लिख रखने में सुविधा हो इस दृष्टि से एक दिन वे दत्तचित्त हो ठाकुर की सारी बातें गौर से सुन रहे थे, पर अचानक ही ठाकुर बोल उठे, "क्यों रे, ऐसे क्यों सुन रहा है?" तारक लज्जित होकर मौन रहे। ठाकुर बोले, "तुझे यह सब नहीं करना होगा – तुम लोगों का जीवन अलग है।" उस दिन से उनका लिखने का संकल्प दूर हो गया तथा जो कुछ लिखा जा चुका था वह गंगागर्भ में विसर्जित कर दिया गया।

उनके जीवन में इस प्रकार की और भी घटनाएँ घटी थीं। एक बार दक्षिणेश्वर में एक वैष्णव साधु आये थे। उनके सम्प्रदाय के लोग कृष्ण को मानते थे, पर राधा को नहीं। उन साधु की इच्छा थी कि तारक आदि युवक भक्तगण उनके निकट आयें, परन्तु ठाकुर ने कहा, "उनका मत अच्छा हो सकता है पर मेरे मन के अनुकूल नहीं है। भगवान् की लीला भी चाहिए।" अतः तारक का वहाँ जाना बन्द हो गया। तारक जब रामबाबू के मकान में रहते थे, उस समय नित्यगोपाल भी वहाँ रहा करते थे। ठाकुर नित्यगोपाल के भगवत्प्रेम एवं भावावस्था आदि की प्रशंसा करते थे, परन्तु उन्होंने तारक को सावधान कर दिया था – "देख तारक, तू नित्यगोपाल के साथ ज्यादा मेलजोल मत रखना। उसका भाव अलग है – वह यहाँ का आदमी नहीं है।" लोकव्यवहार की दृष्टि से जितना आवश्यक था, उसके अतिरिक्त नित्यगोपाल के साथ तारक का अन्य सभी वार्तालाप आदि उसी दिन से बन्द हो गया।

ठाकुर की सेवा में तारक सर्वदा तत्पर रहा करते तथा अवसर ढूँढ़ते रहते थे। बाद में उन्होंने कहा भी था – "हम लोग कितने भाग्यवान् हैं! उन्हें पान लगाकर खिलाया है, तम्बाकू सजाकर पिलाया है, उनकी सेवा की है और उनसे कितना प्यार-दुलार पाया है।" पर ठाकुर इस सेवक से सभी प्रकार की सेवा ग्रहण करने को राजी नहीं थे। ठाकुर के झाऊतला की ओर शौच के लिए जाने पर उपस्थित भक्तों में से कोई उनका गडुआ लेकर जाया करता था। एक दिन और कोई न रहने के कारण तारक ही गडुआ लेकर गये। शौच से लौटकर जब ठाकुर ने देखा कि तारक गडुआ लेकर आये हैं तो बोले, "तू क्यों जल का गडुआ ले आया? तेरे हाथ का जल मैं कैसे लूँ? तेरी सेवा मैं कैसे ले सकता हूँ? तेरे पिता के प्रति मैं गुरु के समान श्रद्धा जो रखता हूँ।"

तारक का वैराग्य क्रमशः बढ़ता गया और एक दिन उन्होंने घर जाकर श्रीमती नित्यकाली देवी को बतला दिया कि अब उनके लिए संसार में रह पाना असम्भव है; पर हाँ, वे उनके भरण-पोषण की व्यवस्था करेंगे। वस्तुतः इसीलिए उन्होंने इस बीच कुछ धनसंचय कर लिया था; पर उन्हें वह धन व्यय करने की आवश्यकता नहीं पड़ी, क्योंकि शीघ्र ही नित्यकाली देवी रोगग्रस्त हुई और चल बसीं। पत्नी का देहान्त हो जाने पर सारे बन्धन टूट गये। अतः तारक पिता से विदा लेने गये। यह हृदयविदारक बात सुनकर पिता के नेत्रों से अश्रुधार बह चली, परन्तु वे बाधक नहीं हुए। उन्होंने उनसे गृहदेवता को प्रणाम कर आने को कहा और फिर उनके सिर पर हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया – "तुम्हें भगवत्प्राप्ति हो! इसके लिए मैंने स्वयं काफी प्रयास किया – संसार त्यागने की भी चेष्टा की थी, पर कर न सका। इसलिए आशीष देता हूँ कि तुम्हें भगवत्प्राप्ति हो।" पिता की अनुमति तथा आशीर्वाद के साथ संसारत्याग करना बड़ा ही दुर्लभ है। तारक को ऐसा सौभाग्य मिला है,

यह सुनकर ठाकुर ने कहा, "बहुत अच्छा हुआ।" यह अनुमानतः १८८३ ई. के अन्तिम भाग की बात है।

बन्धनमुक्त संन्यासी तारकनाथ कुछ दिन दक्षिणेश्वर में ठाकुर के साथ रहे। तदनन्तर एक दिन ठाकुर ने भक्तप्रवर रामचन्द्र दत्त से कहा, "देखो राम, यह तारक तुम लोगों के यहाँ रहेगा। वह सदा यहाँ के भक्तों के साथ रहने के लिए बड़ा उत्सुक है।" फिर तारक से बोले, "देख, तू ब्राह्मण का लड़का है – उनका अन्न* छोड़कर बाकी सब खाना।" तारक रामबाबू के घर पर स्वयं पकाकर भोजन करते हुए रहने लगे तथा भगवान् के स्मरण-मनन में समय बिताने लगे। वे एक छोटेसे कमरे में रहते, भूमि पर लेटते और दिन में एक ही बार भोजन करते थे। उनकी इस कठोर तपस्या का लिखकर वर्णन नहीं किया जा सकता। उन्होंने स्वयं ही कहा था – "अधिकांश दिन मैं एक ही बार भोजन करता और वह भी हविष्यान्न। कभी हुआ तो आलू, बैंगन या ऐसा ही कुछ आग में भून लेता और उसी के साथ थोड़ासा खा लिया करता। देह के आराम के लिए समय देने की बिलकुल इच्छा नहीं होती थी।" वचनामृत में लिखा है – "तारक की भी स्थिति अन्तर्मुखी है। आजकल वे लोगों से विशेष वार्तालाप नहीं करते।" (वचनामृत, २३ सितम्बर, १८८३) राह चलते समय उनकी दृष्टि पैर के अँगूठे पर स्थिर रहती। एक दिन वे इस प्रकार गंगास्नान को जा रहे थे कि पीछे से एक परिचित सज्जन उनसे बातचीत करने के लिए आये और उनका नाम लेकर पुकारने लगे। परन्तु तारक का ध्यान ही नहीं था – वे अपने आप में मग्न चलते चले गये। उन सज्जन ने तारक को अहंकारी समझा। परन्तु दोनों से परिचित एक अन्य मित्र ने उन्हें समझा दिया कि वह अन्तर्मुख अवस्था है, उनके साथ बात करनी हो तो सामने से आना चाहिए। एक दूसरे दिन उन सज्जन ने वैसा ही किया। अब तारक ने बड़े प्रेम से बातें की जिससे उनका खेद दूर हुआ। आत्मनिमग्न और निःसंग तारक उन दिनों प्राणों की व्यग्रता के कारण सदा निवासस्थान पर भी नहीं रह पाते थे। उनके स्वयं के कथन से पता चलता है – "ऐसा भी कई बार हुआ है कि बीडन स्क्वेयर और हेदुआ में ध्यान-भजन करते हुए सारी रात बिता दी। फिर कभी कभी कालीघाट में और केवड़ातला में भी ध्यान-भजन किया है।" रामबाबू के मकान से वे काँकुड़गाछी जाया करते थे। उन दिनों वह इलाका जंगलों से भरा था और उधर लोगों का आना-जाना भी कम ही हुआ करता था। वहाँ रामबाबू का बगीचा था जिसमें केवल एक माली रहा करता था। वहाँ वे एक आम के पेड़ के नीचे धूनी जलाकर रात दिन जप-ध्यान में बिताया करते थे। दिन में केवल एक बार भिक्षा के लिए बाहर

* यहाँ अन्न का अर्थ है कच्ची रसोई या पानी में पका अन्न – जैसे भात।

जाते थे और जो कुछ मिलता उसी से क्षुधानिवारण कर लेते थे। वे केवल एक धोती पहने रहते, इसके अतिरिक्त देह पर कोई आवरण नहीं रहता। देह या बाल आदि की ओर उनका बिलकुल ध्यान नहीं था।

तपस्याकाल में तारक कभी कभी पैदल दक्षिणेश्वर चले जाते थे और बहुधा रात में वहीं रह जाया करते थे। आत्मचिन्तन में निमग्न तारक उन दिनों लोकसमागम से दूर ही रहा करते थे। अतः दक्षिणेश्वर में उनकी उपस्थिति भक्तों को प्रायः अज्ञात ही रहती थी। काँकुड़गाछी में रहते समय, एक बार वे वृन्दावन गये। वहाँ से वे ब्रज की रज, निर्वकमृत्तिका और प्रसादी चने लेकर दक्षिणेश्वर में ठाकुर के दर्शन करने आये। कुछ दिन पहले, गिर जाने के कारण ठाकुर का हाथ टूट गया था। डॉक्टरों ने बँडेज करके उसे बाँध दिया था। साधु को इस प्रकार का शारीरिक कष्ट होना युक्तिसंगत है अथवा नहीं आदि विषयों पर उस समय भक्तों के बीच चर्चा होती थी। ठाकुर ने तारक को सामने पाकर उनकी परीक्षा लेने के लिए पूछा, "अच्छा, लोग कहते हैं कि ये यदि इतने (साधु) हैं – तो फिर (इन्हें) रोग क्यों होता है?" तारक ने एकदम उत्तर दिया, "भगवानदास बाबाजी भी काफी दिनों तक रोग के कारण शय्याग्रस्त थे।" इस सरल उत्तर में किसी दार्शनिक मतवाद की सहायता से सत्य को ढँकने अथवा अपने सन्देह को छिपाने का प्रयास नहीं है; क्योंकि साधुजीवन से सुपरिचित तारकनाथ को यह ज्ञात था कि शरीर प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही चलता है – रोग होना न होना इसका साधुत्व के साथ क्या सम्बन्ध है?

चिकित्सा के निमित्त १८८६ ई. में ठाकुर काशीपुर आये और उनकी सेवा के लिए तारक भी वहीं आकर निवास करने लगे। वहाँ पर सेवा के साथ ही साथ नरेन्द्रनाथ के नेतृत्व में ध्यान-भजन तथा शास्त्र-अध्ययन भी हुआ करता था। बौद्धधर्म तथा निर्गुण निराकार ब्रह्म पर भी वहाँ यथेष्ट विचार-विमर्ष होता रहता था। आये हुए भक्तों के साथ नरेन्द्र इन्हीं सब विषयों पर युक्ति-तर्क करते अथवा तारकनाथ को तर्क में लगाकर आनन्द लेते थे। भक्तगण इनका भाव न समझ पाकर एक बार इन्हें नास्तिक तक समझ बैठे थे, परन्तु ठाकुर ने उन्हें समझा दिया कि यह साधकजीवन की एक विशिष्ट अवस्था मात्र है – इसमें चिन्ता करने की कोई बात नहीं।

एक दिन भगवान् तथागत के चिन्तन में विभोर नरेन्द्रनाथ ने तारक और काली (अभेदानन्द) के संमक्ष बोधगया चलकर तपस्या करने का प्रस्ताव रखा। दोनों सहमत हुए। केवल एक गेरुआ वस्त्र पहने तथा कन्धे पर एक कम्बल लिए तीनों साथ चल दिए। बोधगया पहुँचने पर वे लोग, जिस वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न होकर तथागत ने बुद्धत्व की प्राप्ति की थी, उसी के नीचे बैठकर ध्यान में डूब गये। शाक्यसिंह जिस वज्रासन में बैठे थे, नरेन्द्रनाथ भी उसी पर आसीन हुए। तीनों साथ बैठे ध्यान में मग्न थे, ऐसे समय अचानक नरेन्द्रनाथ ने भावावेश में रोते हुए तारकनाथ को

जकड़ लिया। फिर दूसरे ही क्षण वे पुनः सहजावस्था में आकर ध्यान में बैठ गये।* बाद में तारक ने जब इसका कारण पूछा तो नरेन्द्र ने बताया, "मन में एक तीव्र वेदना का अनुभव हुआ था। ... सब कुछ तो है – पर वे कहाँ हैं? ... बुद्धदेव का विरह इतना अधिक महसूस होने लगा कि मैं स्वयं को सँभाल न सका और इसीलिए रोते हुए आपको जकड़ लिया।" वह रात ध्यान में ही बीती। उनकी इच्छा थी – कुछ और दिन बोधगया में बिताएँ, परन्तु भिक्षा में प्राप्त मडुए की रोटियाँ नरेन्द्र के पेट को सहन नहीं हुई। फिर गरम कपड़ों के अभाव में नींद भी पूरी नहीं हो पाती थी। अतः तीन-चार दिन बाद ही वे लोग गया होते हुए पुनः काशीपुर लौट आये। उन लोगों को देखकर ठाकुर ने एक उँगली चारों ओर घुमायी, और अँगूठा दिखाते हुए कहा, "कहीं कुछ भी नहीं है।" फिर अपनी ओर संकेत करते हुए बोले, "इस बार सब कुछ यहीं है, और चाहे जहाँ भी क्यों न जाओ, कुछ न पाओगे। यहाँ के सभी द्वार खुले हैं।" काशीपुर लौटने के बाद भी उन लोगों में गहन ध्यान का भाव बहुत दिनों तक बना रहा। इसीलिए वे प्रायः दक्षिणेश्वर में ही रात बिताया करते थे और कभी कभी वहीं पर रह भी जाते थे।

तारक प्रारम्भ से ही नरेन्द्र के प्रति विशेष श्रद्धा रखते थे, पर एक घटना ने उस श्रद्धामिश्रित प्रेम को और भी वर्धित कर दिया। काशीपुर में उनमें से कुछ लोग एक बड़ी मच्छरदानी के नीचे एक ही साथ सोया करते थे। एक रात तारक की नींद खुल गयी। देखाकि सारे कमरे को प्रकाशमान करती हुई नरेन्द्र की देह के चारों ओर छोटी छोटी शिवमूर्तियाँ घूम रही हैं। उन्हें स्मरण हो आया कि नरेन्द्र का दूसरा नाम वीरेश्वर है और जिनकी पूजा के फलस्वरूप नरेन्द्र का जन्म हुआ है, उन वाराणसी के वीरेश्वर-शिव के स्वरूप का इसी प्रकार वर्णन है।

काशीपुर की एक छोटीसी घटना से तारक के प्रति ठाकुर के स्नेह की झलक मिलती है। उस दिन रसोइये के न होने के कारण तारक भोजन पका रहे थे। ऊपर से छौंक देने की गन्ध पाकर ठाकुर ने पूछा, "कौन पका रहा है?" यह जानकर कि तारक पका रहे हैं, उन्होंने थोड़ीसी चच्चड़ी† मँगवाकर चखी।

---

* स्वामी अभेदानन्द का विवरण थोड़ा अलग है। उनके कथनानुसार यह घटना दूसरे दिन प्रातःकाल (८ या ९ अप्रैल १८८६ ई.) को हुई थी। सारी रात बोधिवृक्ष के नीचे ध्यान करने के पश्चात् वे तीनों प्रातःकाल पुनः ध्यान करने मन्दिर में बैठे थे। नरेन्द्र के बायीं ओर काली और काली के बायीं ओर तारक थे। इस घटना के बारे में नरेन्द्रनाथ ने काली से कहा, "बुद्धमूर्ति में से एक ज्योति निकलकर, तुम्हारे निकट बैठे तारकदाद की ओर से होती हुई निकल गयी।" (बँगला ग्रन्थ 'स्वामी अभेदानन्देर जीवनकथा')। सम्भवतः इसी विवरण को सुनकर बाद में स्वामी अद्भुतानन्द ने कहा था "वहाँ तो लोरेनभाई (नरेन्द्रनाथ) ने तारकदादा की देह में एक ज्योति को प्रवेश करते देखा था।" पता नहीं निराकार के चिन्तन में निमग्न तारक के साथ निर्वाणमार्गी बौद्धों का कोई अलौकिक सम्बन्ध था या नहीं।

† कई सब्जियों को मिलाकर पकायी हुई एक प्रकार की बंगाली तरकारी।

अन्त में युवक भक्तों को नरेन्द्र के अधीन एक अविच्छेद्य प्रेमसूत्र में गूँथने के पश्चात् ठाकुर ने लीलासंवरण किया। तदुपरान्त उनमें से कई लोग अपने अपने घर लौट गये; परन्तु जाने का कोई स्थान न होने अथवा मन में वैसी इच्छा न आने के कारण लाटू, बूढ़े गोपाल और गृहत्यागी तारक उद्यान-भवन में ही रहे और वहाँ श्रद्धापूर्वक रखी हुई ठाकुर की पवित्र भस्मास्थि की जीवन्त ठाकुर के रूप में पूजा करने लगे। परन्तु ३१ अगस्त (१८८६) को मकान के किराये की अवधि पूरी हो जाने पर गृही भक्तगण वह मकान खाली कर देंगे – यह विचार कर लाटू वृन्दावन चले गये। तारक भी शीघ्र ही वहीं जा पहुँचे। परन्तु उनका अधिक दिन वृन्दावन-वास न हो सका। श्री सुरेन्द्रनाथ मित्र के आग्रह पर नरेन्द्रनाथ मठ-स्थापना के लिए एक मकान की तलाश करने लगे और उन्होंने तारक को पत्र लिख दिया कि वे किसी भी क्षण वापस आने को प्रस्तुत रहें। तदनुसार तारकनाथ वाराणसी पहुँचकर नरेन्द्रनाथ के तार की प्रतीक्षा करते रहे। थोड़े ही दिनों में नरेन्द्रनाथ ने वराहनगर में एक भुतहा मकान* किराये पर ले लिया तथा ठाकुर की वस्तुएँ वहाँ रखने की व्यवस्था कर दीं। इसके बाद उन्होंने तारकनाथ को तार किया। तारक तुरन्त रवाना होकर कलकत्ते के बलराम-मन्दिर में नरेन्द्र के पास आ गये। वे जिस घोड़ागाड़ी पर आये थे, नरेन्द्र और राखाल भी उसी पर उनके साथ बैठ गये और सभी एक साथ वराहनगर के मकान पर जा पहुँचे। इस प्रकार रामकृष्ण-संघ का प्रथम मठ आरम्भ हुआ।

उस वर्ष की एक अविस्मरणीय घटना थी – दिसम्बर में सब का एक साथ आँटपुर जाना, वहाँ पर एक सप्ताह से भी अधिक समय ध्यान-भजन में बिताना और बड़े दिन की रात को धूनी के सामने बैठकर ईसामसीह के त्याग-वैराग्य पर चर्चा करते हुए संन्यास-ग्रहण की प्रेरणा पाना। बाद में यथासमय ठाकुर की पादुका के समक्ष विरजा होम करके आनुष्ठानिक रूप से संन्यास लेने के बाद शिव-तुल्य तारक को शिवानन्द नाम मिला।†

शिवानन्द महाराज उम्र में बड़े थे, काफी दिनों से संन्यास-जीवन के अभ्यस्त थे और मठ के प्रथम अन्तेवासियों में एक थे, अतः उस समय मठ चलाने का उत्तरदायित्व स्वाभाविक रूप से उन्हीं के कन्धों पर पड़ा। वे मन-प्राण से प्रयास करते हुए सब की सुख-सुविधा की व्यवस्था में लगे रहते थे। सब्जी काटना, पानी भरना, झाड़ू लगाना, शौचस्थान साफ करना – यह सभी उनका नित्यकर्म था। व्यवहार में वे सरल, निःसंकोच, नम्र और मधुरभाषी थे। उनके मुख से सदैव 'अखण्ड सच्चिदानन्द' का उच्चारण होता रहता था। भजन आदि में भी वे अग्रणी रहते थे। एक बार शिवरात्रि के दिन 'वचनामृत'कार ने जाकर देखा कि मठ के भाइयों ने

* मकान भुतहा होने के कारण ही बहुत कम किराये पर मिल सका था।

† स्वामी अभेदानन्देर जीवनकथा, वचनामृत तथा स्वामी शिवानन्द का दि. ८.१.१८९० का पत्र।

उपवास कर रखा है। उन्हें देखते ही शिवानन्दजी ने स्वामीजी द्वारा विरचित "ताथैया ताथैया नाचे भोला" आदि भजन गाते हुए नृत्य करना आरम्भ कर दिया, राखाल ने भी साथ दिया और उन लोगों ने 'वचनामृत'कार को भी अपने दल में खींच लिया। ठाकुर के वियोग से विरह-तप्त स्वामी शिवानन्द वर्षाकाल में एक दिन मानो आकाश तथा वायुमण्डल को अपनी विरहव्यथा से पूर्ण करते हुए इस आशय का गीत गाने लगे – "मेरे हरि मधुपुरी को चले गये, और मैं तो कुलवधू ठहरी! मेरी दशा रास्ते पर फेंकी हुई मालती की माला के समान हो गयी है।" आदि।

ठाकुर ने अपने पार्षदों को जिस प्रेमसूत्र में बाँधा था, उसमें गृहस्थ-संन्यासी का भेद नहीं था। शिवानन्द महाराज भी उसी प्रेम में पगकर उसकी बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में सब की सेवा में लगे रहते थे। १८८९ ई. में प्रयाग में योगीन महाराज को चेचक होने पर वे तुरन्त वहाँ जा पहुँचे। १८९० ई. में जब बलरामबाबू को भीषण निमोनिया हो गया था तो उन्होंने आनन्दपूर्वक उनकी सेवा की। फिर १८९६ ई. में (वाराणसी में) स्वामी अद्वैतानन्द के पैर में काँटा चुभ जाने से उनमें उठने की क्षमता नहीं रह गयी थी। उस समय शिवानन्द महाराज ने प्रमदादासबाबू से इन वृद्ध स्वामीजी की सेवा करने का पत्र द्वारा विशेष अनुरोध किया।

इन असंख्य सद्गुणों के कारण यह स्वाभाविक ही था कि वे सब के श्रद्धाभाजन बन जाते। मठ के भ्रातागण उन्हें 'तारकदादा' कहकर पुकारते थे और नरेन्द्रनाथ भी उन्हें सदा 'आप' कहकर ही सम्बोधित करते थे। 'महापुरुष' उनका दूसरा लोकप्रिय नाम था। वराहनगर के दिनों में एक बार वे सभी आमन्त्रित होकर बलरामभवन गये। वहाँ ठाकुर की चर्चा के प्रसंग में नरेन्द्रनाथ ने कहा, "एकमात्र ठाकुर ही कामजित् थे, नहीं तो विवाहित जीवन में कामजित् व्यक्ति संसार में दुर्लभ है।" सुनकर शिवानन्दजी बोले, "क्यों? ठाकुर ने मेरे भीतर ऐसी शक्ति संचारित कर दी थी कि जिसके बल पर मैं भी कामजय कर सका। उनकी कृपा से सब कुछ सम्भव है।" विस्मित होकर नरेन्द्र बोल उठे, "तब तो आप महापुरुष हैं।" उस दिन से शिवानन्द 'महापुरुष' नाम से परिचित हुए।

सर्वदा उच्च आध्यात्मिक राज्य में विचरणशील महापुरुष महाराज में मनुष्यसुलभ आनन्द-रस का अभाव नहीं था। स्वामी अद्भुतानन्द कहते हैं – "हमारे मठ में तारकदादा बड़े ही विनोदी थे। वे लोगों की खूब नकल उतारते थे; फिर कहते, 'भाई, तुम लोगों के साथ थोड़ा हास्य-विनोद करता हूँ, इस कारण नाराज मत हो जाना!' " हाथ-पाँव हिलाकर दूसरों का अनुकरण करते हुए या पश्तों और गुजराती की शैली में भाषण आदि देते हुए वे अपने ध्यान-गम्भीर मन को थोड़ा हल्का कर लेते थे और साथ ही दूसरों को भी शुद्ध आनन्दरस से पूर्ण कर देते थे। एक बार स्वामीजी 'मेघनादवध' काव्य के गुण-अवगुण पर विचार कर रहे थे। उस काव्य में

इच्छानुसार संज्ञा को क्रिया में परिणत करने तथा क्रियापद को संक्षिप्त करने का कौशल देखकर रसिक महापुरुष को बड़ा ही आनन्द आया। वे तुरन्त कहने लगे, "अजी तब तो 'आलू का दम बनाओ' न कहकर 'आलू को दमा दो' कहना होगा।" फिर गुप्त महाराज को पुकारते हुए कहा, "गुप्त, जरा तम्बाकू को तमका देना।" इन सब बातों के साथ ही वे अपनी तर्जनी तथा गर्दन को हिलाते हुए अपूर्व अभिनय के साथ आल्हादपूर्वक कमरे में इतस्ततः घूमने लगे – और सभी लोग हँसते-हँसते लोटपोट हो गये।

कुछ दिन मठ में रहने के पश्चात् कई लोग तीर्थ भ्रमण के लिए बाहर जाने लगे। महापुरुष महाराज भी १८८८ ई. में एक बार उत्तराखण्ड की यात्रा को निकले, परन्तु हाथरस पहुँचकर उन्होंने देखा कि स्वामी विवेकानन्द वहाँ पर रुग्ण हो पड़े हैं। अतः उन्होंने अपना संकल्प त्याग दिया और केवल वृन्दावन-दर्शन करके स्वामीजी को साथ लेकर कलकत्ता लौटने की इच्छा व्यक्त की। महापुरुषजी को उत्तराखण्ड जाते देखकर वाराणसी के एक अन्य तीर्थयात्री भी उनके साथ हो लिए थे। उनका कलकत्ता लौटने का विचार देखकर उन सहयात्री ने व्यंगपूर्वक शिकायत करते हुए कहा कि संन्यासी का तथाकथित गुरुभ्रातृप्रेम में फँसकर तीर्थदर्शन का संकल्प त्याग देना और माया में मग्न होकर धर्म-कर्म त्याग देना – दोनों एक ही हैं। उत्तर में महापुरुषजी ने कहा कि उन्हें ठाकुर से जो शिक्षा मीली है, उसमें भ्रातृप्रेम का स्थान अत्यन्त उच्च है तथा लौकिक युक्ति-तर्क के द्वारा उसे नीचे नहीं लाया जा सकता। इस पर भी सहयात्री की नाराजगी दूर नहीं हुई। तब महापुरुषजी ने स्थानीय सज्जनों से कुछ धन जुटाकर उनके हरिद्वार जाने की अच्छी व्यवस्था कर दी और स्वयं स्वामीजी के साथ कलकत्ता चले आये।

इस वर्ष अभिलाषा अपूर्ण रह जाने पर अगले वर्ष के प्रारम्भ में उन्होंने पुनः हिमालय की यात्रा की। इस भ्रमण के अवसर पर केदारनाथ के मार्ग में श्रीनगर में दैवयोग से उनकी दीर्घकाल बाद गंगाधर महाराज से भेंट हुई। तिब्बत-भ्रमण के फलस्वरूप गंगाधर महाराज का मुँह झुलस-सा गया था। तथा देह तिब्बती पोशाक में आवृत थी। अतः शिवानन्द महाराज पहले तो उन्हें पहचान ही नहीं सके। पर गंगाधर महाराज ने उन्हें पहचान लिया और "दादा! दादा!" कहकर पुकारा। तब वे स्नेहविगलित कण्ठ से बोल उठे, "कौन? गंगा? तू जीवित है!" इसके साथ ही उन्हें दोनों भुजाओं में जकड़ लिया और उनके नेत्रों से आँसू बहने लगे।

इसके बाद दोनों ने साथ ही बहुतसा मार्ग तय किया। केदारनाथ में श्रीविग्रह के दर्शन कर भावविह्वल हो महापुरुष महाराज ने गंगाधर महाराज को दृढ़ आलिंगनपाश में बाँध लिया और काफी समय तक ध्यानमग्न रहे। केदारनाथ के बाद बद्रीनारायण के दर्शन कर वे गंगाधर महाराज को साथ लेकर लौट आना चाहते थे; परन्तु गंगाधर

महाराज के मन में तिब्बत का आकर्षण प्रबल होने से उन्होंने एक न सुनी। निरुपाय महापुरुष महाराज अल्मोड़ा तथा काशी में कुछ काल बिताकर अकेले ही वराहनगर लौट आये। अल्मोड़ा में उन्होंने बद्री शाह नामक एक सज्जन का आतिथ्य स्वीकार किया। शाहजी उनके गुणों पर इतने मुग्ध हुए थे कि इसके बाद वराहनगर मठ का कोई भी साधु उस अंचल में आने पर वे उन्हें सम्मानपूर्वक अपने घर में रखते हुए उनकी सेवा करते थे।

१८९१ ई. अक्तूबर में 'गुरुरूपी तीर्थदेवता' के आकर्षण पर महापुरुषजी दक्षिण भारत के तीर्थों की यात्रा पर चल दिये। श्रीरामकृष्णदेव ने एक बार उन्हें दर्शन देकर कहा था, "अरे, गुरु ही सब कुछ है।" इसलिए रामेश्वर-यात्रा के पूर्व उन्होंने लिखा – "एक दिन प्रगाढ़ ध्यान में रामेश्वर-दर्शन की अभिलाषा इतनी प्रबल हो उठी थी कि यदि मेरे पक्षी के समान पंख होते तो उड़कर चला जाता। ... गुरुदेव इस बार अपने रामेश्वर रूप में मुझे आकर्षित कर रहे हैं। उनके अनन्त रूप है।" फिर प्रयाग पहुँचकर उन्होंने पुनः लिखा – "ओंकारनाथ, उज्जयिनी में महाकाल और गोदावरीतट पर त्र्यंबकेश्वर – ये आकर्षित कर रहे हैं। सभी गुरुरूप हैं। श्रीरामकृष्ण की सम्भवतः विशेष इच्छा है कि मैं इन सभी का दर्शन करूँ – नहीं तो फिर इतनी तीव्र इच्छा क्यों होती? यह मन तो उनके हाथ बिक चुका है।" परन्तु इस बार उनका रामेश्वर-दर्शन न हो सका। जब वे पूना के सोमेश्वर-शिवमन्दिर में तपस्यारत थे, तो रामेश्वर से लौटे दो पीड़ित ब्राह्मणों ने उन्हें यह बताते हुए कि इस समय वह अंचल स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, वहाँ जाने से मना किया। अतः पूर्व संकल्प को उस समय के लिए स्थगित करके शिवानन्दजी पुनः उत्तर भारत की ओर लौटे। रास्ते में पंचवटी आदि स्थानों में देवदर्शन तथा तपस्या आदि करते हुए वे यथाक्रम प्रयाग पहुँचे। वहाँ पर झूँसी में कल्पवास, मकरसंक्रान्ति-स्नान तथा माघ-स्नान समाप्त करने के बाद वे वाराणसी पहुँचे। यहाँ उन्होंने तपस्या करने के उद्देश्य से वंशी दत्त के उद्यानभवन में आश्रय लिया।

इधर १८९१ ई. अक्तूबर या नवम्बर में मठ वराहनगर से आलमबाजार स्थानान्तरित हुआ। अगले वर्ष श्रीरामकृष्ण-जन्मोत्सव के पूर्व ही महापुरुष महाराज आलमबाजार पहुँचे। वहाँ आकर उन्हें पता चला कि उनके दक्षिण भ्रमणकाल में उनके पिता का देहावसान हो गया है; अतः वे जन्मस्थान पर गये और पिता के श्मशान में लोटते हुए अश्रुजल से अन्तिम तर्पण किया। मार्च के अन्त में, शशी महाराज के साथ वे ठाकुर और माताजी के जन्मस्थान का दर्शन करने गये। जयरामवाटी में एक दिन उन्होंने रसोई पकाकर माताजी को भोजन कराया था। कामारपुकुर में उन्हें मलेरिया हो गया और इसलिए वे तुरन्त आरामबाग होते हुए मठ लौट आये।

१८९२ ई. में वे और एक बार तीर्थभ्रमण के लिए बाहर निकले तथा

कुरुक्षेत्र, ज्वालामुखी, वराह-अवतार का जन्मस्थान सारों एवं सहस्रबाहु परशुराम के जन्मस्थान का दर्शन किया। इन दिनों वे निःसम्बल चलते थे तथा लोकसमागम से दूर रहा करते थे। अन्त में, अल्मोड़ा पहुँचकर वे पातालदेवी आदि निर्जन स्थानों में भिक्षालब्ध सामग्री से शरीरनिर्वाह करते हुए तपस्या में मग्न हो गये। इस स्थान पर श्री ई. टी. स्टर्डी नामक अंग्रेज सज्जन उनके गुणों पर मुग्ध हुए। बाद में, उन्होंने स्वामी विवेकानन्द को उनके लन्दन के कार्य में विशेष सहायता की थी।

१८९३ ई. अक्तूबर में रामेश्वर-दर्शन की इच्छा से महापुरुष महाराज अल्मोड़ा से दक्षिण की ओर रवाना हुए। आगरा, वृन्दावन, जयपुर, आबू तथा बम्बई होते हुए जब वे मद्रास पहुँचे तो सारा दक्षिण स्वामी विवेकानन्द के गुणगान से गूँज रहा था। श्रीरामकृष्णदेव के इन अंतरंग शिष्य को अपने बीच पाकर मद्रासवासियों का उत्साह दुगना हो गया। वहाँ के भक्तों को लिखे हुए स्वामीजी के पत्रों को पढ़कर महापुरुष महाराज भी अत्यन्त आनन्दित हुए। तदनन्तर कांची, चिदम्बरम्, मदुरा, रामेश्वर, श्रीरंगम् आदि प्रसिद्ध तीर्थों का दर्शन करते हुए वे भक्तों का आमन्त्रण पाकर बंगलोर आये (फरवरी, १८९४ ई.)। बंगलोर से मैसूर होते हुए जब वे मद्रास लौटे, तो श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव समीप आ चुका था। इस अवसर पर महापुरुष महाराज को अपने बीच पाकर तथा उनसे श्रीरामकृष्ण के बारे में सुनकर मद्रासवासी कृतार्थ हो गये। दक्षिण भारत में उनके इस आडम्बरहीन किन्तु अत्यन्त प्रभावशाली प्रचार का समाचार पाकर स्वामी विवेकानन्द ने एक पत्र में लिखा था – "तारकदादा ने मद्रास में काफी कार्य किया है। बड़े आनन्द की बात है। मद्रास के लोगों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए मुझे पत्र लिखे हैं।" इसके थोड़े ही दिनों बाद वे मठ लौट आये।

महापुरुषजी की तीर्थदर्शन की आकांक्षा तब भी तृप्त नहीं हुई थी, विशेषकर हिमालय के प्रति उनका आकर्षण बड़ा ही प्रबल था। अतः वे पुनः उत्तरकाशी गये। मार्ग में लखनऊ में स्वामी ब्रह्मानन्द और तुरीयानन्द के साथ भेंट होने पर उन्होंने बताया – स्वामीजी चाहते है कि वे लोग मठ लौट जाएँ। उत्तरकाशी से लौटते समय फैजाबाद में उनकी पुनः उन दोनों से भेंट हुई। स्वामी तुरीयानन्द उनके साथ मठ चले आये। आगामी वर्ष भी (१८९५ ई.) महापुरुषजी उत्तर की ओर निकले तथा ब्रह्मावर्त (बिठूर) और वाराणसी में देवी-देवताओं के दर्शन एवं तपस्या में कुछ समय बिताकर मठ लौट आये। १८९६ ई. का भी कुछ भाग इसी प्रकार बीता। वास्तव में तपस्या की एक अतृप्त इच्छा उन्हें कई वर्षों से इधर-उधर घुमा रही थी। उस तपस्या में निष्ठा भी अपूर्व थी। बाद में एक बार इन तपस्याओं के बारे में उन्होंने स्वयं ही कहा था – "ऐसा भी बहुत समय गया है, जब एक धोती से अधिक कुछ साथ नहीं रहता था। ... पेड़ के नीचे सोकर कितनी ही रातें बीती

है। ... अब तो दो कदम चलने में भी कष्ट होता है। पर यही शरीर इन्हीं पैरों पर कितने पहाड़-पर्वत घूमा है – कितनी कठोरता की है।" इस तपस्या एवं तीर्थभ्रमण के साथ ही आडम्बररहित प्रचार भी होता रहता था, जिसकी प्रशंसा में स्वामीजी ने लिखा था – "तारकदादा अद्भुत कार्य कर रहे हैं – शाबाश! यही तो चाहिए।"

होते होते सन् १८९७ ई. समीप आया। स्वामी विवेकानन्द के स्वदेश लौटने की प्रतीक्षा में सम्पूर्ण भारतवर्ष अधीर हो उठा और मठ के भाइयों के मन-प्राण में एक असीम आनन्द हिलोरें लेने लगा। शिवानन्द महाराज आनन्दातिरेक से मठ में स्थिर न रह सके और स्वामीजी से मिलने मदुरा जा पहुँचे। फिर वहाँ से वे स्वामीजी के साथ ही कलकत्ता लौटे। इसके पश्चात् जब स्वामीजी स्वास्थ्य-लाभ की दृष्टि से दार्जिलिंग गये तो महापुरुष महाराज तपस्या को निकले। जाते समय स्वामीजी ने उनसे कहा, "तारकदादा, आपको किसी भी हालत में तपस्या के लिए नहीं जाने दूँगा।" परन्तु अन्त में उनकी व्याकुलता देखकर जाने दिया, पर साथ ही कह दिया कि उनके गन्तव्य स्थान अल्मोड़ा में एक आश्रम की स्थापना हो। हम देखेंगे कि बहुत दिन बाद १९१५ ई. में महापुरुषजी ने उस आदेश का पालन किया था। मई में स्वामीजी जब दार्जिलिंग से अल्मोड़ा आये तब उनका महापुरुषजी के साथ पुनर्मिलन हुआ।

अल्मोड़ा से स्वामीजी के निर्देश पर महापुरुषजी वेदान्त-प्रचार के लिए श्रीलंका गये। वहाँ पर स्वदेशियों एवं विदेशियों के बीच सात-आठ मास तक अक्लान्त रूप से वेदान्त-प्रचार करने तथा वहाँ पर वेदान्त-प्रचार का एक केन्द्र स्थापित करने के उपरान्त जब वे वापस लौटे, तब मठ बेलुड़ के नीलाम्बर मुखोपाध्याय के उद्यानभवन में आ चुका था। मठ की पुरानी दैनन्दिनी देखने से पता चलता है कि मठ लौटकर महापुरुषजी उन दिनों साधुओं तथा समागत भक्तों के साथ नियमित रूप से शास्त्रचर्चा करते थे। थोड़े ही दिनों में कलकत्ते में प्लेग की महामारी फैली। शिवानन्दजी तथा अन्य कई लोग सेवाकार्य में जुट गये।* धीरे धीरे रोग का प्रकोप शान्त हो जाने पर शिवानन्दजी दार्जिलिंग चले गये। वहाँ पर एक नयी दुर्घटना हुई। पहाड़ में एक भीषण भूस्खलन के फलस्वरूप बहुतसे लोग तबाह हो गये। शिवानन्दजी उनकी सहायता में लग गये। यह सेवाकार्य पूरा करके वर्ष के अन्त में वे मठ लौटे।

१९०० ई. दिसम्बर में स्वामी विवेकानन्द द्वितीय बार पाश्चात्य देशों से लौटे। २७ दिसम्बर को वे स्वामी शिवानन्द तथा सदानन्द को साथ लेकर मायावती गये।

* "कलकत्ते में प्लेग-कार्य :– सचिव – भगिनी निवेदिता; प्रधान कार्याध्यक्ष – स्वामी सदानन्द; अन्य कार्यकर्ता – (१) स्वामी शिवानन्द, (२) स्वामी नित्यानन्द, (३) स्वामी आत्मानन्द।" – उद्बोधन (बँगला मासिक), १५ ज्येष्ठ, १३०६ वंगाब्द। यह द्वितीय प्लेग सेवाकार्य था। प्रथम सेवाकार्य १८९८ ई. मई में हुआ था।